सम्मेलन-पत्रिका

[त्रैमासिक]

[भाग—४३, संख्या—२]
चैत्र शुक्ल प्रतिपदा, सम्वत् २०१५

सम्पादक
रामप्रताप त्रिपाठी, शास्त्री

वार्षिक आठ रुपये

हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग

एक प्रति दो रुपये

विषय-सूची

श्री देवर्षि सनाढ्य

हिन्दी के पौराणिक नाटक

अन्य भारतीय भाषाओ की भाँति हिन्दी में भी नाटक-रचना का आरम्भ पौराणिक कथा को लेकर ही हुआ है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र[1], आचार्य रामचन्द्र शुक्ल[2], बा० ब्रजरत्नदास[3], डा० सोमनाथ गुप्त[4] तथा श्री कृष्णलाल[5] के हिन्दी-नाटक के आरम्भ से सबध रखने वाले मतो पर ध्यान देने से यह स्पष्ट हो जाता है। केवल डा० दशरथ ओझा[6] का मत इन विद्वानो से भिन्न है, वे हिन्दी नाटक का आरभ "सदेस रासक" से मानते है, जिसका आधार पौराणिक नही है, परन्तु जैसा कि पहिले कहा जा चुका है, "सदेश राक" को हिन्दी-नाटक का आदि मानना समीचीन नही है।

सच तो यह है कि हिन्दी का वास्तवविक आदि नाटक राजा लक्ष्मणसिह द्वारा किया हुआ कालिदास के "अभिज्ञान शाकुतलम्" का अनुवाद है, यह नाटक ही नाटक के यथावत् नियमो से परिपूर्ण, सुन्दर भाषा मे लिखा हुआ, अभिनेयता और पाठ्यता—दोनो गुणो से युक्त हिन्दी में पहिला नाटक है, पर यह अनुवाद है, हिन्दी का पहिला पूर्ण नाटक भारतेन्दु हरिश्चन्द्र द्वारा १८७४ ई० मे लिखा गया "सत्य हरिश्चन्द्र" है, इस प्रकार इस निष्कर्ष पर पहुचना कठिन नही है कि चाहे पूर्णता का ध्यान रखिए, चाहे अपूर्णता का, चाहे मौलिकता को लीजिए, चाहे अनुवाद को, अन्य भारतीय भाषाओ की भाति हिन्दी-नाटको का आरभ भी पुराण की गाथाओ से हुआ है। यह स्वाभाविक ही है। डाक्टर एस० पी०[7] खत्री के अनुसार "जिन-जिन कारणो से नाटकीय आत्मा

---

१ भारतेन्दु 'नाटक' स० १, १९४९ ई०, पृष्ठ ५५।

२ आचार्य शुक्ल का इतिहास स० ८, २००९ वि०, पृष्ठ ४५३।

३ हिन्दी नाट्य साहित्य (बा० ब्रजरत्नदास) सस्कृत ४, २००६ वि०, पृष्ठ ७५।

४ सोमनाथ गुप्त हिन्दी नाट्य-साहित्य का इतिहास, सं० २३, १९४१ ई०, पृष्ठ ५।

५ श्री कृष्णलाल : आधुनिक हिन्दी-साहित्य का विकास, १९४२ ई०, स० ४, पृष्ठ १९४।

६ हिन्दी नाटक : उद्भव और विकास, , पृष्ठ ८७—८८।

७ नाटक की परख, सं० २, सन् ५१, पृष्ठ १०८।

का विकास हुआ, जिन-जिन तत्वों से उसकी रूपरेखा का निर्माण हुआ, उनमें नृत्य, संगीत तथा देवपूजा और वीर-पूजा की भावना ही मूल रूप में प्रस्तुत थी और नाटककारो का पौराणिक वीरो की ओर घ्यान आकृष्ट होना स्वाभाविक ही था।"

डा० नगेन्द्र[1] के अनुसार "राम-लीला" और रास से भिन्न अभिनय की कल्पना करना शायद हिन्दी-जनता के लिये आसान नही था।"

विषय की दृष्टि से हिन्दी के पौराणिक नाटको को तीन भागो में बाँटना उचित लगता है। (अन्य भाषाओ के पौराणिक नाटक भी इसी भाँति बाँटे जा सकते है।)

१ रामचरिताश्रित पौराणिक नाटक, २. कृष्णचरिताश्रित पौराणिक नाटक तथा ३. अन्य चरिताश्रित पौराणिक नाटक। यद्यपि पुराणो से गृहीत कथा के आधार पर भी यह वर्गीकरण हो सकता है, किन्तु उसमें एक कठिनता आती है, एक कथा कई-कई पुराणो में प्राप्त होती है, ऐसी स्थिति में यह जानना बडा कठिन हो जाता है कि किस पुराण से नाटक की कथा ली गयी है। इस कारण नायकाश्रित वर्गीकरण ही सुगम होता है।

शिल्पविधि के आधार पर हिन्दी-पौराणिक नाटको के दो वर्ग होते हैं—१ साहित्यिक, २ रगमंचीय। यद्यपि कुछ नाटको को रगमचीय कहना और कुछ को न कहना विरोधाभास-सा लगता है, क्योकि नाटक का मुख्य गुण तो अभिनेयता ही है। वास्तव मे साहित्यिक नाटक वे हैं, जिनका विशेष उद्देश्य किसी नाटक-मडली मे अभिनीत होने के लिये लिखा जाना नही रहा। और रग-मचीय नाटक वे है, जिनकी रचना मुख्यत किसी नाटक-मडली द्वारा अभिनय होने के लिये की गई—दोनो प्रकार के नाटको मे पर्याप्त अन्तर है। इसी अन्तर के आधार पर नाटको के ये दो रूप स्वीकार करना ठीक लगता है।

नाटको का एक वर्गीकरण यह भी है—(१) मौलिक, (२) अनूदित। दोनो प्रकारो की भिन्नता स्पष्ट ही है।

काल-क्रम और युगीन विशेषताओ के आधार पर हिन्दी के पौराणिक नाटको के चार वर्ग करना उचित लगता है। १ आरभिक युग (१६६८ वि० १८३६ वि०), २ प्रथम युग (भारतेन्दु से लेकर—१६११ ई० तक), ३ द्वितीय युग (१६१२–१६३१ई०) ४ तृतीय युग (१६३२–१६५५ ई०) इस प्रकार वर्गीकरण का यह रूप होता है।

---

१. आधुनिक हिन्दी नाटक, सं० १, १६६६ वि०, पृष्ठ ३।
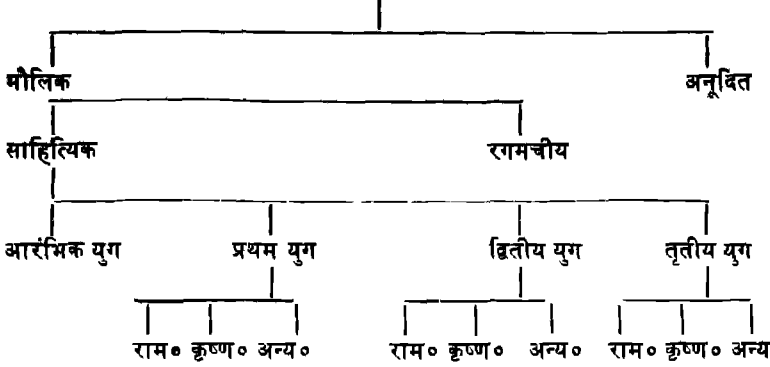
१ आरंभिक युग

आरंभिक युग में लिखे गये नाटको को कुछ विद्वान्[1] नाटक मानना ही नही चाहते और कुछ विद्वान्[2] इन कृतियो को पूर्ण नाटक मानते है। इन्हे नाटक न मानने वाले विद्वान् इनमे नाटकीय कथावस्तु के विकास का अभाव, प्रबधकाव्य जैसी छन्दोमयी आख्यान-पद्धति, पात्रो के प्रवेश और प्रस्थान-सकेत तथा अक-परिवर्तन, दृश्यविभाजन आदि का न होना एव गति-निर्देश के लिये भी छन्दो का सहारा पाकर इन्हे नाटक नही मानते। इसके विपरीत इन सब कृतियो को नाटक स्वीकार करने वाले विद्वान् इन सब बातो मे अपने समय का नाटकीय विधान मान कर तत्कालीन सामाजिक स्थिति और शिल्प-शैली को ध्यान मे रखते हुये उन्हे नाटक स्वीकार करते है तथा इन्हे रासशैली का नाटक मानते हैं। वस्तुत दोनो प्रकार के विद्वानो मे मत-वैभिन्य केवल दृष्टि-भेद है। पहिला मत रखनेवाले विद्वान् आधुनिक नाट्य-शिल्प के आधार पर इन नाटको की परीक्षा करते है और (स्वभावत) इन्हे नाटक नही मानते। दूसरे मत के विद्वान् इन्हें स्पष्टत "रास" न कह कर "रास शैली का नाटक" कहने को दृढ सकल्प रखते है। वास्तविकता यह है कि ये रास है, नाटक नही है। ये आधुनिक नाटको के पूर्व रूप हैं। इनका नाटक-परम्परा में महत्त्व तो है ही। हिन्दी-नाटक की प्राचीन परम्परा की ओर ये आरभिक नाटक स्पष्ट सकेत कर देते है।

इस युग मे बारह पौराणिक नाटक प्राप्त होते है। इनमे ६ का आधार रामायण, तीन का महाभारत तथा तीन का अन्य पुराण है। इन कृतियो के कथा-ग्रहण के प्रकार को देखने से यह निष्कर्ष निकलता है कि उन दिनो पुराणो के पढ़ने-लिखने का प्रचार कम हो रहा था, विशेषत नाटक लिखने में तो कोई इस ओर ध्यान देना आवश्यक ही नही समझता था—राम सबंधी नाटक

---

१ डा० सोमनाथ गुप्त : हिन्दी नाटक साहित्य का इतिहास, तृ० स० पृष्ठ ७।

२ डा० दशरथ ओझा : हिन्दी नाटक : उद्भव और विकास, पृष्ठ १६२–१७३।

अधिक लिखे गये, इसका एक कारण राम-लीला का विशेष प्रचार समझना चाहिए। कृष्ण का प्रचार ब्रज और उसके आस-पास के क्षेत्रो में ही प्राय रहा, उससे कृष्णचरित को इस युग के नाटको में उतनी व्यापकता न मिली। ऐसा भी प्रतीत होता है कि नाटको के लेखको ने अपनी विशुद्ध अन्त प्रेरणा मे नाटको को नही लिखा था। या तो लेखको के पीछे आश्रयदाताओ की रुचि काम कर रही थी या उनका धर्म उन्हे नाटक-रचना की प्रेरणा देता था—अधिकतर नाटक नाटकीयता की अपेक्षा लीला-शैली के निकट अधिक है। सस्कृत-नाटको की इतनी पुष्ट परम्परा होते हुये भी अधिकतर नाटको मे कविता की प्रधानता रही और गीति-शैली को अपनाया गया। यह आश्चर्य ही लगता है कि इसी युग के अन्तिम भाग मे राजा लक्ष्मण सिह ने कालिदास के "अभिज्ञान शाकुन्तल" का अनुवाद "शकुन्तला" प्रस्तुत किया, जिसने अगले युग के नाटककारो के सम्मुख नाटक-रचना का एक ठोस आदर्श रखा।

इन नाटको की भाषा प्राय ब्रज है। कुछ प्रयत्न खडी बोली मे किये गये है, कुछ स्थानो पर ब्रज भाषा के स्थान मे खडी बोली को अधिक प्रश्रय दिये जाने की भावनाए भी है।

इस युग के पौराणिक नाटको मे लक्ष्मणशरण "मधुकर" का "रामलीला-विहार", विश्वनाथसिह का "आनद रघुनन्दन", गोपालचन्द्र "गिरिधरदास" का "नहुष" उल्लेखनीय है। पर जिसे सचमुच नाटक कहा जा सकता है वह राजा लक्ष्मणसिह का "शकुन्तला" ही है। अनुवाद होते हुये भी यह उस युग मे मौलिक नाटक जैसा प्रमाणित हुआ। यह हिन्दी-नाटको की दो परम्पराओ के बीच की सीमा रेखा है, आगे के हिन्दी-नाटक-प्रासाद की दृढ नीव है। हिन्दी के प्रारभिक नाटको की तो केवल भाव-धारा ही सस्कृत के आधार पर चली थी, "शकुन्तला" नाटक ने सस्कृत-शिल्प को स्वीकार करने के लिये भी प्रेरणा दी।

२ प्रथम युग

प्रथम युग के पौराणिक नाटको का आरभ भारतेन्दु बा० हरिश्चन्द्र-प्रणीत नाटको से होता है। भारतेन्दु जी के सम्मुख आदर्शरूप मे उनके पिता का रचा "नहुष" और राजा लक्ष्मणसिह द्वारा किया गया "शकुन्तला" (अनुवाद) था। इस बीच मे अग्रेजी के नाटको का पठन-पाठन आरभ हो गया था। परिणामस्वरूप भारतेन्दु जी ने लक्ष्मणसिह के अनुवाद द्वारा प्रयुक्त सस्कृत-नाट्यशैली और अग्रेजी के नाट्यशिल्प का समन्वय कर नाट्य-रचना का श्रीगणेश किया।

इस युग के नाटको में लीला-शैली के भी कुछ नाटक प्राप्त होते हैं, पर इस शैली का प्रभाव धीरे-धीरे कम होता दिखायी पडता है और ऐसे नाटको को दीपक की अन्तिम लौ कहा जा सकता है। ऐसे किसी नाटक मे नाटकीय उत्कृष्टता नही है।

शेष नाटको मे प्राचीन सस्कृत-नाट्य शैली के त्याग और नवीन पाश्चात्य शैली को अपनाने का प्रयत्न बराबर मिलता है—इस समन्वय के प्रयत्नस्वरूप एक ही लेखक[1] के नाटको

---

१ बालकृष्ण भट्ट के नाटक।

में दो प्रकार के प्रयत्न मिलते हैं, जिससे पता चलता है कि नाटककार धीरे-धीरे प्राचीन शैली से मुक्त होकर नवीन शैली की ओर बढ रहे है।

इस युग में नाटक-रचना ने पर्याप्त विस्तार पाया। पौराणिक नाटको के अतिरिक्त कथानको को लेकर भी नाटक लिखे गये, परन्तु पौराणिक कथावस्तु का ग्रहण भी पर्याप्त मात्रा में हुआ राम, कृष्ण तथा अन्य चरित्रो को लेकर अनेक नाटको का प्रणयन हुआ। रामचरिताश्रित नाटक पर्याप्त हैं, जिनमें उल्लेखनीय है शीतलाप्रसाद त्रिपाठी का "जानकी-मगल", भवदेव उपाध्याय का "सुलोचना सती", बदरीनारायण "प्रेमघन" का "प्रयाग रामागमन" आदि। कृष्णचरिताश्रित नाटको मे भारतेन्दु जी का "चन्द्रावली" श्रेष्ट नाटक है, "हरिऔध" का "रुक्मिणी-परिणय" भी इसी युग मे लिखा गया। कृष्ण चरिताश्रित नाटक भी पर्याप्त मात्रा मे है। अन्य चरिताश्रित नाटको में भारतेन्दु जी के "सत्य हरिश्चन्द्र" और "सती प्रताप" के अतिरिक्त भी उल्लेखनीय नाटक है, श्रीनिवासदास का "तप्तासवरण", विष्णु गोविन्द शिर्वादेकर का "कर्णपर्व", बालकृष्ण भट्ट का "बृहन्नला" और "वेणुसहार", कन्हैयालाल का "अजनासुदरी" आदि नाटक अपने युग के अनुसार सुन्दर प्रयत्न है।

इन सब नाटको के अध्ययन से पता चलता है कि महाभारत और रामायण के अतिरिक्त पुराणो से भी कथावस्तु ली जाने लगी थी, इनमें श्रीमद्भागवत की प्रधानता रही। नाटककार पुराणो का अध्ययन किये बिना ही जनता मे प्रचलित कथानको को नाटक के लिए चुन लेते थे और नाटक लिख डालते थे अथवा पूर्ववर्ती नाटककारो द्वारा लिखे गये नाटको मे उलट-फेर करके अपना नवीन नाटक बना लेते थे। इसके अपवाद भारतेन्दुजी तथा बालकृष्ण भट्ट है। उनके नाटको की भूमिकाएँ उनके गभीर पुराणाध्ययन की ओर सकेत करती है। सस्कृत के "किरातार्जुनीय", शिशुपालबध", "नैषधीयचरित" आदि काव्यो मे आयी पुराण कथाओ को भी इन काव्यो के अनुसार नाटकीकरण के लिये चुना गया है। रामचरिताश्रित नाटको में अधिकतर तुलसी के "रामचरित मानस" को आधार बनाया गया है।

इस युग के कुछ पौराणिक नाटको के उद्देश्य में केवल पौराणिक कथा को नाटकीय रूप देना अथवा धार्मिकता का प्रचार करना ही नही है। समाज-सुधार, राष्ट्र-सुधार आदि की भावना भी लक्षित होती है। "सत्यहरिश्चन्द्र", "बेणुसहार", आदि मे यह भावना स्पष्ट है। "सत्य हरिश्चन्द्र" में सत्य-व्यवहार और "बेणुसहार" मे कुराजा के राज्य के कुप्रबन्ध के उल्लेख पर बल दिया गया है।

शिल्प विधि मे इस युग के नाटको मे भारतेन्दु जी के मध्यम मार्ग को खूब अपनाया गया। "सत्य हरिश्चन्द्र", "चन्द्रावली" "दमयती-स्वयवर" आदि के अतिरिक्त अन्य नाटको में अभिनेयता नही के बराबर है। वस्तु-गठन, भाषा, भाव, चरित्र-चित्रण की सुघराई भी बहुत कम नाटको मे आ पायी है, परन्तु प्रयत्न सब ओर बढा है—वस्तुगठन की ओर भी ध्यान है, अभिनेयता लाने के लिये चेष्टा है। यह दूसरी बात है कि कृतकार्य भारतेन्दु जी के अतिरिक्त कम ही नाटककार हो सके। सब मिला कर दो दर्जन से अधिक सुन्दर नाटक इस युग मे नही छाँटे जा सकते,

वह भी कठिनता से। अधिकतर नाटक ऐसे है, जो पौराणिक कथा का आधार लेकर लिखे जाने पर भी न तो किसी सास्कृतिक पुर्ननिर्माण की प्रेरणा देते हैं और न नाटककार की मौलिक प्रतिभा का ही परिचय देते हैं।

२ द्वितीय युग

द्वितीय युग में राम और कृष्ण के चरित्रो को लेकर केवल तीन-तीन ही नाटक लिखे गये। रामचरिताश्रित तीनो नाटक तो केवल रामलीला ही है। कृष्णचरिताश्रित नाटको में "वियोगी हरि" का "छद्मयोगिनी" एक लीला ही है। पर उसकी प्रेम-भावना की व्यजकता सुन्दर है। माखनलाल चतुर्वेदी का "कृष्णार्जुन युद्ध" एक सुन्दर नाटक है, जिसमे देशोत्थान की भावना लक्षित हुई है। इसका अभिनेयता की दृष्टि से अच्छा स्थान माना जाता है। अन्य चरिताश्रित नाटक पर्याप्त मात्रा मे लिखे गये। इनमे कई अत्यन्त सुन्दर नाटक हैं। बदरीनाथ भट्ट का "कुरुवन दहन" नाटको की दिशा में एक नवीन प्रयोग है। सुदर्शन का "अजना", बलदेवप्रसाद मिश्र का "वासना वैभव", गोविन्दवल्लभ पत का "वरमाला", जयशकर प्रसाद का "जनमेजय का नागयज्ञ" इस युग के श्रेष्ठ नाटक हैं। इनका अपना-अपना पृथक्-पृथक् स्थायी महत्व है। "कुरुवन दहन", "अजना" और "वरमाला" नाटको मे साहित्यिकता के साथ-साथ अभिनेयता की ओर भी अच्छा ध्यान दिया गया है।

पौराणिक नाटकों के प्रथम युग मे भी अभिनेयता की ओर नाटककारो ने ध्यान दिया था, पर उनका यह प्रयत्न अधिक सफल नही हुआ। इस युग मे यद्यपि ध्यान देने वाले नाटककार सख्या की दृष्टि से कम थे, पर जिन्होने ध्यान दिया, उन्हे सफलता अच्छी मिली। नाटकीय शिल्प-विधि मे पाश्चात्य और पूर्वीय-दोनो दृष्टियो से कार्य-व्यापार को सगठित करने का स्तुत्य प्रयत्न किया गया। नाटक पाँच और तीन अक तक के लिखे गये। गोविन्दवल्लभ पत का "वरमाला" नाटकीय शिल्प का एक सुन्दर आदर्श है। कथानक की विचित्रता रोमाटिक प्रेम नाटक की भावना को रगीनियो मे भर देता है। पुराण की यह साधारण कहानी "वरमाला" के कुशल कलाकार के हाथो पड कर आधुनिक चित्रपटो की प्रेम-कहानी के समान प्रतीत होती है।

द्वितीय युग के पौराणिक नाटको में नाटककारो ने राष्ट्र की पराधीनता और अत्याचार का प्रतिबिम्ब बडी बेचैनी के साथ उतारा है। इस युग के नाटककारो मे अत्याचार के चित्र खीचकर उनके विरुद्ध तूर्यनाद करने की आकाक्षा बडे वेग से उमडी है। बदरीनाथ भट्ट के—"बेन चरित्र", भगवन्नारायण भार्गव के "कीचक" तथा हरदेव प्रसाद जालान के "क्रूर बेन" में अत्याचारी बेन तथा कीचक के रूप मे तत्कालीन राजनीतिक अत्याचार का चित्र खीचना नाटककारो का प्रधान उद्देश्य रहा है।

सामाजिक भावनाओ के परिष्कार के लिये भी इस युग के पौराणिक नाटको में प्रयत्न किया गया है। "कृष्णार्जुन युद्ध" मे कर्त्तव्य-पालन का सदेश, मैथिलीशरण गुप्त के "चन्द्रहास" में सत्य और अहिसा-प्रेम का सदेश, "भीष्म" मे सर्वस्वत्याग का सदेश स्पष्ट रूप मे ही दिया गया

है। "अंजना" में नारी जीवन की सामाजिक परिस्थितियो का अत्यन्त सजीव चित्रण हुआ है। डा० बलदेवप्रसाद मिश्र के "असत्य सकल्प" और "वासनावैभव" में सामाजिक उत्थान की भावना प्राप्त होती है।

गंभीर अध्ययन की दृष्टि से "प्रसाद" का "जनमेजय का नागयज्ञ" बडी ऊँची वस्तु है, पुराण को इतिहास के रूप में देखने का यह प्रयत्न निश्चय ही विराट है। ऐसे ही प्रयत्नो द्वारा यह सिद्ध हो सकता है कि पुराण नितात कल्पना ही नही है, इनमें इतिहास का स्थूल सत्य भी है।

इस युग के कुछ अन्य चरिताश्रित पौराणिक नाटकों में नाटककारो की एक और दृष्टि स्पष्ट होती है। उन्होने पौराणिक कथाओ का आधार नाममात्र को ग्रहण किया है। अनेक नाटक ऐसे है, जिनमे पात्रो क नाम पौराणिक न रहने देकर अन्य कर देने से नाटको को बड़ी सुविधा से राष्ट्रीय, सामाजिक, राजनीतिक अथवा प्रेम-सबधी नाटक किया जा सकता है। डा० सोमनाथ गुप्त के अनुसार "पुरातन को नूतन की दृष्टि से देखना अधिकाश नाटको का प्रधान गुण है।"[1]

वस्तुत भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने प्राचीन कथानको के सहारे देश की चेतना को देखने का जो आरम्भ अपने समय मे किया था, इस युग के नाटको में वह बडी सफलता के साथ प्रकट हुआ। आगे चलकर इस दृष्टि को और भी बल मिला। विज्ञान का प्रभाव बढ रहा था, चारो ओर भौतिकता का बोलबाला था, ऐसे अनास्था और नास्तिकता के बढते हुए युग में पुराण और उसकी गाथाओ के द्वारा जन-चेतना जगाना जितना कठिन था, उतना ही आवश्यक भी था। इस युग मे, थोडा ही सही, यह कार्य हुआ और कम से कम यह स्पष्ट हो तो गया कि अब पौराणिक गाथाएँ न तो अधविश्वास के साथ सुनी जायेगी और न देखी जायेगी। पुराणो के अदृश्य और स्वर्गस्थित चरित्रो को जनसमुदाय अपने पास धरती पर, अपनी अवस्था मे देखना चाहता था। इस युग मे अनेक पौराणिक नाटको मे यह दृष्टि आयी।

४ तृतीय युग

तृतीय युग मे राम, कृष्ण तथा अन्य चरितो को लेकर पर्याप्त पौराणिक नाटक लिखे गये, परन्तु प्रधानता अन्य चरिताश्रित पौराणिक नाटको की रही। अध्ययन की गहराई इस युग के नाटककार मे बडी है और वह कथा-ग्रहण के लिये रामायण और महाभारत तक ही नही रहा है, स्कन्द पुराण और वायुपुराण तक की कथाओ का उपयोग इस युग के नाटको में हुआ है। रामचरिताश्रित नाटको मे सेठ गोविन्ददास का "कर्त्तव्य (पूर्वार्ध)", आचार्य चतुरसेन शास्त्री का "मेघनाद", पृथ्वीनाथ शर्मा का "उर्मिला", सीताराम चतुर्वेदी का "शबरी", सद्गुरुशरण अवस्थी का "मझली रानी", रामवृक्ष बेनीपुरी का "सीता की मा" उल्ले-

1. हिन्दी नाटक-साहित्य का इतिहास, पृष्ठ २१२।

खनीय नाटक हैं। "सीता की माँ" तो एक एकपात्री स्वोक्तिरूपक है, जो हिन्दी मे पहिला प्रयत्न है। पं० गोकुलचन्द शर्मा का "अभिनय रामायण" तुलसी के रामचरित मानस को नाटकीय रूप देने का एक श्लाघ्य प्रयत्न है, इसे लीला शैली के नाटको का विकसिततम रूप कहा जा सकता है।

कृष्ण-चरिताश्रित नाटको में सेठ गोविन्ददास का "कर्त्तव्य" (उत्तरार्द्ध), किशोरीदास बाजपेयी का "सुदामा" सुन्दर नाटक है। कृष्णचरिताश्रित नाटको की संख्या इस युग में रामचरित की अपेक्षा कही कम रही।

अन्य चरिताश्रित नाटको मे कई नाटक हिन्दी-नाटक-साहित्य की अमूल्य निधि है। उदयशंकर भट्ट के "विद्रोहिणी अम्बा" और "सगरविजय", लक्ष्मीनारायण मिश्र के "नारद की वीणा" और "चक्रव्यूह" नाटक-जगत् को अपूर्व देन हैं। शेष नाटको मे कैलासनाथ भटनागर का[1] "भीम प्रतिज्ञा", रांगेय राघव का "स्वर्ग-भूमि का यात्री" तथा गोविन्दवल्लभ पंत का "ययाति" अपने-अपने क्षेत्र के उल्लेखनीय नाटक हैं।

तृतीय युग के पौराणिक नाटककारो पर वैज्ञानिक दृष्टि का प्रभाव पर्याप्त मात्रा मे पडा है। वे पुराणों को पढते है। और अनेक स्थानो पर प्रश्नवाचक चिह्न खीचकर अपनी बुद्धि से उनका समाधान करने का प्रयत्न करते है। इसके फलस्वरूप नाटककारो की प्रतिभा का उपयोग पौराणिक कथाओ के नाटकीकरण मे भिन्न-भिन्न रूप म हुआ है। पौराणिक चरित्रो के द्वारा किसी नाटककार ने कर्त्तव्य के आदर्श[2] को पाठको के सम्मुख रक्खा है, किसी ने किसी उपेक्षित पात्र[3] के साथ सहानुभूति मे दो आँसू बहाये है, किसी ने जाति-पाँति के भेद[4] की समस्या का समाधान ढूँढा है तो किसी ने राजनीतिक[5] प्रश्नो का। किसी ने अपने नाटक मे अन्न[6] की समस्या पर प्रकाश डाला है, किसी ने नारी के गौरव के प्रति अपनी श्रद्धा के फूल अर्पित किये है। अधिकाश नाटककार पौराणिक कथाओ मे आज के जीवन को देखने लगे है और इस प्रकार पाठको के हृदय मे पौराणिक चरित्रो के प्रति अपनापन उत्पन्न करने मे ये नाटककार समर्थ हुए है। इन नाटको के पौराणिक चरित्र आकाश के अस्पृश्य देवता नही, हमारे समाज के प्रतिदिन सम्पर्क मे आने वाले मानव हैं, पौराणिक नाटको की रचना करते-करते नाटककार अपनी संस्कृति के प्रति भी ममतामय हो उठा है और वह अन्य कथानको मे भी सास्कृतिक दृष्टि खोजने लगा है। उसने इन पुराण गाथाओ मे परस्पर विरुद्ध तथ्य देखकर बुद्धि-मन्थन किया है और वह संस्कृति को धर्म

---

१ कैलासनाथ भटनागर "भीम प्रतिज्ञा"।
२ सेठ गोविन्ददास : "कर्त्तव्य"।
३. सद्गुरुशरण अवस्थी : "मॅझली रानी"।
४. गौरीशंकर मिश्र : "शबरी-अछूत"।
५. सीताराम चतुर्वेदी : "शबरी"।
६. गोविन्दवल्लभ पन्त . "ययाति"।

से भी बढ़कर समझने लगा है। प्रसिद्ध पौराणिक नाटककार उदयशंकर भट्ट के "शकविजय" नामक ऐतिहासिक नाटक में भारतीय संस्कृति के प्रति उनके एकनिष्ठ अनुराग के दर्शन होते हैं। उनके इस नाटक में यह स्पष्ट रूप से प्रतिध्वनित हुआ है कि धर्म की आड़ में भारतीय संस्कृति पर कुठाराघात करने-वाला असभ्य है। जो धर्म अवरुद्ध होकर मनुष्य की प्रगति को भी अवरुद्ध कर दे, वह क्या धर्म है? आज के एक दूसरे पौराणिक नाटककार[१] ने धर्म को गंगा की धारा की तरह गतिमान् माना है।

पौराणिक कथाओं को तर्कसम्मत दृष्टि से देखने के कारण इस युग के पौराणिक नाटकों ने हमें जीवन की व्यापकता और विशालता का संदेश भी दिया है, जो हम हैं, जैसे हम हैं, वही सब कुछ नहीं है, खान-पान, स्त्री-पुरुष-संबंध, आचार-व्यवहार की भिन्नता मानव-मन की भिन्नता नहीं है। ये सब परिवर्तनशील हैं, भूगोल और इतिहास के बलवान् थपेड़े इन सब को बदल देते हैं। सत्य है मानव की निष्ठा, सत्य है मानव के अंतस की अजस्र, झरने वाली स्नेह-गंगा की धारा।

इस युग के पौराणिक नाटकों ने अनेक पात्रों के विषय में हमारी पूर्वप्रचलित धारणाओं को बदल लेने के लिये भी विवश किया है। "स्वर्ग भूमि का यात्री," "चक्रव्यूह" आदि में दुर्योधन सुयोधन हो गया है, "नारद की वीणा"[१] में कलह प्रिय नारद समन्वयवादी है, "विद्रोहिणी अम्बा" में भीष्म का अम्बा के प्रति व्यवहार अन्यायी जैसा है, कृष्ण से भी आर्य संस्कृति के नवनिर्माण में भूलें हुयीं, इस प्रकार के अनेक नये संकेत तृतीय युग के पौराणिक नाटकों में प्राप्त होते हैं।

इस युग के अधिकांश पौराणिक नाटकों में रंगमंच की उपयोगिता का प्रायः अभाव दीखता है। इस युग के एक विद्वान् नाटककार रंगमंच के लिए नाटक लिखना असाहित्यिक कार्य समझते हैं। उनके अनुसार यदि नाटक अभिनेय है तो वह साहित्यिक नहीं, और जो साहित्यिक है, वह अभिनेय नहीं। दर्शकों की रुचि को ध्यान में रख कर लिखा जाने वाला नाटक बाजारू होता है। उन्होंने कहा[२] है, "कला न वानरी वृत्ति का प्रतिरूप है और न वर्णसंकरी संतान है। फिर जो नाटककार रंगमंच का मुंह ताक कर अपने नाटक की रचना करते हैं अथवा जो अभिनेय नाटकों को साहित्यिक समझते हैं, दोनों शुद्ध भ्रम में हैं।"

विद्वान् नाटककार के इस मत के विरुद्ध केवल इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि भारत में तो प्राचीन काल से नाटक को दृश्य काव्य[३] और अभिनेय ही माना गया है, यूरोप में भी आधुनिक[४] नाटककारों का विचार है कि नाटकों को, उनकी रंगमंचीय उपयोगिता का ध्यान रक्खे बिना, केवल पाठ्यरूप में स्वीकार करना भी उतनी ही बड़ी भूल होगी, जितनी कि उन्हें रंगमंचीय मान कर उनकी पाठ्य-उपयोगिता की उपेक्षा करना।

---

१ लक्ष्मीनारायण मिश्र : नारद की वीणा (संस्करण २) पृष्ठ ३७।
२ सद्‌गुरुशरण अवस्थी : मँझली रानी, पृष्ठ ३।
३. विश्वनाथ : साहित्य दर्पण, परि० ६, कारिका, २७५।
४. टी०ऐस० इलियट : "कलक्टेड ऐसेज" फोर ऐलिजिबेथन ड्रामेटिस्ट, पृष्ठ ११०।

परन्तु इस युग के अनेक नाटककार नाटको की रगमचीय उपयोगिता के प्रति भी सचेष्ट हैं। ऐसे नाटककारो में गोविन्दवल्लभ पत का नाम अनायास लिया जा सकता है। उनके "ययाति" का थोडे-से उद्योग से ही रगमच पर सफलतापूर्वक अभिनय हो सकता है। उनके द्वितीय युग में लिखे नाटक "वरमाला" को देख कर डा० नगेन्द्र[1] ने उनके व्यावहारिक रगमंचीय ज्ञान के अनुभव को स्वीकार किया था, "वरमाला" का ज्ञान "ययाति" मे और भी परिपक्व होकर प्रकट हुआ है।

लक्ष्मीनारायण मिश्र के पौराणिक नाटक रगमच की यथार्थवादी कला को लेकर आये है। यद्यपि उनके कथोपकथन थोडे बुद्धिगम्य होते हैं और उन्हे संस्कृत और परिष्कृत रुचि के पाठक ही भलीभाति समझ सकते हैं, फिर भी आधुनिक रगमचीय कला का समस्वर उनके दोनो[2] पौराणिक नाटको मे बोलता है। इन दोनो नाटको का अत अत्यन्त प्रभावशाली और नाटकीय है।

तृतीय युग के कई पौराणिक नाटककारो ने पुराणो को इतिहास का रूप दिया है। रागेय राघव ने तो अपने नाटक "स्वर्गभूमि का यात्री" को "ऐतिहासिक नाटक" विशेषण ही दिया है। "नारद की वीणा" मे लक्ष्मीनारायण मिश्र ने भी पुराण के आधार पर इतिहास को टटोला[3] है। पुराण को इतिहास के रूप मे देखने की यह परम्परा "प्रसाद" के "जनमेजय का नागयज्ञ" मे आरंभ हुई थी, इस धारा में इस युग के पौराणिक नाटक प्रगति कर रहे है, किन्तु ऐसा कर वे ही नाटककार रहे हैं, जिनके पास यथेष्ट साधन, प्रतिभा और अध्ययनात्मक रुचि है।

इस युग मे नाटक से पाठको को एक साथ मनोरजन और काव्यानन्द देकर अपने श्रम को सफल समझना उचित नही माना जा सकेगा, ऐसा इस युग के एक प्रतिनिधि नाटककार का विचार है, वे नाटक का ध्येय न तो मनोरंजन ही मानते है और न उपदेश देना ही, वे नाटक को सोद्देश्य रचना अस्वीकार करते हुए केवल कला के महत्व को स्वीकार करते[4] हैं। इस युग के पौराणिक नाटक नाट्य-जगत् में नवीन सदेश और नवीन प्रेरणा के वाहक बने अपने उज्ज्वल भविष्य की सूचना दे रहे है।

५. रंगमंचीय

अभी तक किसी ऐसी सस्था का अन्वेषण करना यद्यपि शेष है, जिसे सच्चे अर्थ में "हिन्दी-रगमच" नाम दिया जा सके, फिर भी हिन्दी मे रगमचीय नाटक लिखे गये। इनका रगमच प्रवेश सामान्य थियेटरो द्वारा ही हुआ। पारसी रगमचो पर अनेक हिन्दी नाटक

---

१. आधुनिक हिन्दी-नाटक, (प्र० स०) पृ० १२०।
२. नारद की वीणा, चक्रव्यूह।
३ "नारद की वीणा" का आमुख (संस्क०) २, पृष्ठ १०।
४ उदयशंकर भट्ट : साहित्य सन्देश, जुलाई-अगस्त ५५, पृष्ठ ९८।

खेले गये, इन्हें रंगमंचीय विशेषण दिया गया है। पारसी रगमच अंग्रेजी रगमंच का अनुकरण थे, इनका सम्बन्ध भारतीय (संस्कृत) रंगमच से नही जोड़ा जा सकता। इन रंगमंचो के लिये विशेष रूप से जो नाटक लिखे जाते थे, उनमे भारतीय कथा-साहित्य को पाश्चात्य वातावरण में सजाया जाता था। ये पारसी रंगमंच व्यवसायी रगमंच थे, जिनका मुख्य ध्येय अर्थोपार्जन था। इनके लिए लिखे गये नाटको मे साहित्यिक रुचि का प्राय अभाव था। इनकी प्रतिक्रिया-स्वरूप कुछ अव्यवसायी हिन्दी मच भी बने और उनके लिए भी नाटक लिखे गये। (स्व० बाल-कृष्ण भट्ट के "हिन्दी-प्रदीप" के आधार पर डा० सोमनाथ गुप्त ने इसका विस्तृत विवेचन किया[1] है। अत. रगमचीय पौराणिक नाटको के भी दो रूप प्राप्त होते हैं—१—व्यवसायी मंचो के लिये लिखित और २—अव्यवसायी मचों के लिये लिखित। व्यवसायी रगमचो के लिये लिखित पौराणिक नाटको मे आगाहश्र, बेताब, राधेश्याम कथावाचक के नाटक सुन्दर हैं—राधेश्याम जी का "वीर अभिमन्यु" तो अति प्रसिद्ध नाटक है—और अव्यवसायी रगमचो के लिये लिखे नाटको में माधव शुक्ल, आनन्दप्रसाद कपूर आदि के कुछ नाटक अच्छे बन पडे है।

रगमचीय पौराणिक नाटको ने साहित्यिक नाटको की अपेक्षा जनसाधारण में अधिक प्रचार पाया। इसके कारण स्पष्ट है। साहित्यिक नाटको की तुलना मे रगमचीय नाटको मे रगमंच पर अभिनीत हो सकने की कला अधिक थी। न इनके भाव ही अधिक गम्भीर थे और न इनकी भाषा ही कठिन थी। इनकी दृश्यावली तड़क-भडकदार थी—और इनके कथोपकथन अस्वाभाविक होते हुये भी प्रेक्षको के हृदयो को आन्दोलित कर देते थे। हिन्दी मे ऐसे साहित्यिक नाटक बहुत ही कम हैं, जिनका रगमचीय पक्ष भी प्रबल हो। ऐसा होना परमावश्यक है। पौरा-णिक कथानको को लेकर लिखे गये नाटक विविध मनोरम तथा, अद्भुत दृश्यावली प्रस्तुत करने में अधिक समर्थ हो सकते है। इसकी स्वाभाविकता की रक्षा के साथ-साथ मनोरजन मे भी वृद्धि हो सकेगी।

पौराणिक रगमचीय नाटको मे धीरे-धीरे पाश्चात्य नाटच शिल्प का विकास हुआ है। इन नाटको में, लगभग इनके आरभ से ही, तीन अको की योजना स्वीकार कर ली गयी है। आगा-हश्र, बेताब तथा राधेश्याम कथावाचक के अधिकतर नाटको मे तीन अको की योजना है। यह प्रणाली आधुनिकतम रगमचीय नाटको[2] तक में स्वीकार हुई है। चमत्कार पूर्ण दृश्य, उत्तेजक कथोपकथन आरम्भ मे कोरस-गान, नट, नटी, सूत्रधार आदि का खेले जाने वाले नाटक के विषय में स्पष्टीकरण, विरोध और समता प्रकट करने के लिए उपकथा की आयोजना, स्वतंत्र अथवा किसी प्रकार से संबद्ध हास्य-कथा की कल्पना इन रंगमचीय पौराणिक नाटको की विशेषताए हैं। हास्यरस की कथाओ की योजना इनमें इसलिए भी की गयी है कि प्रधान कथा के पात्रो और दृश्या-

---

१ हिन्दी नाटक साहित्य का इतिहास, (सस्क० ३) पृष्ठ १५३–१५६।
२ अक्तूबर, ५५ में प्रकाशित "मयंक" का "भगवान् राम का बैकुण्ठ वास"।

वलियो की व्यवस्था के लिए उचित अवसर प्राप्त होता रहे। इसीलिए कभी-कभी इन नाटकों में अनावश्यक नृत्य-गान भी आयोजित होते हैं।

रंगमंचीय पौराणिक नाटको की कथाए अधिकतर महाभारत और रामायण से ली गयी हैं। अन्य प्रसिद्ध पौराणिक गाथाओ का आधार भी ग्रहण किया गया है। इन नाटकों का उद्देश्य आदर्श चरित्रो के जीवन का अभिनय प्रदर्शन कर उच्चता की भावना को जागृत करना था, जिसके लिये राम, कृष्ण, श्रवणकुमार, हरिश्चन्द्र, सीता आदि प्रसिद्ध पात्रो की कथा को इन नाटको के लिये बारबार चुना गया। इन नाटको में आदर्श ही अधिक ग्रहण किया गया है, जीवन की यथार्थता की ओर कम ध्यान दिया गया है। जहा कही यथार्थता आयी है, अत्यन्त निम्नरूप मे आयी है, जिसमे लक्ष्मी और सरस्वती जैसी देविया निम्न स्तर पर उतारी गई है और भागीरथ जैसे तपस्वी आवारा बना दिये गये[1] है। इस विषय में डा० श्री कृष्णलाल का अभिमत यथार्थ है कि "इन पौराणिक नाटको का यथार्थवाद भद्दा और कुरुचिपूर्ण[2] है।"

इस भद्दे यथार्थवाद के कारण रंगमचीय पौराणिक नाटको मे अधिकतर सुन्दर चरित्र चित्रण नही हो पाया, या तो इन नाटको मे चरित्रो का चित्रण पुराणानुसार आदर्श हुआ है या फिर अपनी ओर से भद्दी कल्पना कर उन्हे कुत्सित बना दिया गया है। इनमें न तो चरित्र की वास्तविक महत्ता ठीक से समझी गयी और न जीवन के कई अगो मे व्याप्त सामजस्य ही ध्यान में रक्खा गया। इन पौराणिक नाटको मे प्राय कथावस्तु, चरित्र-चित्रण, वातावरण, भाषा-शैली, आदि की ओर कम ध्यान दिया गया है, फिर भी रगमच के तथ्यो को समझने के कारण इनमे के अनेक जन-मन की वस्तु बने। ऐसे नाटको मे राधेश्याम कथावाचक, आगाहश्र, बेताब आदि के नाटको का नाम लिया जा सकता है।

व्यवसायी रगमच के पौराणिक नाटको की अपेक्षा अव्यवसायी रगमचो के पौराणिक नाटको में कई अच्छे गुण हैं। अव्यवसायी रगमचो के लिये लिखे गये नाटको ने सुरुचि का प्रचार और हिन्दी का विकास किया। अव्यवसायी रगमचो के नाटको के प्रभाव से ही अनेक व्यवसायी रंगमंचों के लेखको ने प्रभावित होकर अपने नाटको मे सुधराई और सुरुचि लाने का प्रयत्न किया। इस प्रकार के रंगमंचीय पौराणिक नाटको के द्वारा पौराणिक गाथाओ के सहारे सामाजिक और देश प्रेम की भावनाओ का सस्पर्श भी जब-तब होता रहा है।

६ अनूदित

हिन्दी की पौराणिक नाट्य-परम्परा मे सख्या की दृष्टि से यद्यपि अनूदित नाटक बहुत नही है और अधिकतर अनुवाद सस्कृत और बगला के पौराणिक नाटको के ही हुए है, फिर भी नाट्य-शिल्प और प्रेरणा की दृष्टि से इन अनूदित नाटको का मूल्य कम नही है।

---

१ श्रीकृष्ण हसरत का "गंगावतरण"।

२. आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास, पृष्ठ २४७।

संस्कृत के अनेक नाटकों का आदर्श और छाया ग्रहण करके भारतेन्दु जी ने "सत्य हरिश्चन्द्र", बदरीनाथ भट्ट ने "कुरुवन दहन" और कैलासनाथ भटनागर ने "भीम-प्रतिज्ञा" जैसे नाटक लिखे। विदेश के रोमांटिक ड्रामा का प्रभाव अधिकांश मे द्विजेन्द्र-साहित्य (बंगला) के माध्यम द्वारा हिन्दी-नाटक में आया[1] है।

संस्कृत से किये गये अनूदित नाटकों की संख्या पर्याप्त है। भास, कालिदास, भवभूति, भट्टनारायण आदि प्रसिद्ध नाटकों का अनुवाद हिन्दी मे आया। अनुवाद की दृष्टि से राजा लक्ष्मण-सिंह कृत "अभिज्ञान शाकुंतलम्" का अनुवाद और सत्यनारायण कविरत्न कृत "उत्तररामचरित" का अनुवाद सुन्दर है। पं० गोकुल चन्द शर्मा ने परशुराम नारायण पाटणकर के "वीर धर्मदर्पण" का अनुवाद इतना सुन्दर किया है कि आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने भी उसकी प्रशंसा की थी। भावानुवाद की दृष्टि मे दिङ्नाग के "कुन्दमाला" का सत्येन्द्रशरत् कृत अनुवाद सुन्दर है।

बंगला मे माइकेल मधुसूदनदत्त की "शर्मिष्ठा", मनमोहन वसु की "सती", द्विजेन्द्र-लालराय की "सीता", और रविबाबू के "चित्रागदा" आदि के अनुवाद सुन्दर हुए है, पर कई बंगला के सुन्दर पौराणिक नाटकों के अनुवाद अभी हिन्दी मे अपेक्षित है। मराठी से मामा बरेरकर की "भूमि कन्या सीता" का अनुवाद किया गया है, यह केवल एक ही मराठी पौराणिक नाटक का अनुवाद है, वह भी सतोषजनक नही है। गुजराती मे मुंशीजी के प्राय सभी पौराणिक नाटको के अनुवाद हिन्दी मे हुए है, ये प्राय सुन्दर है, अन्य किसी गुजराती नाटककार की पौराणिक रचना का हिन्दी-अनुवाद देखने मे नही आता।

इस अनुवाद-कार्य पर दृष्टिपात करने से पूरा सतोष नही होता, न संख्या की दृष्टि से, न कार्य की दृष्टि से। संस्कृत के अति प्रसिद्ध नाटक ही हिन्दी मे अभी आ चुके है, अनेक सुन्दर नाटको का अनुवाद अभी अपेक्षित है। संस्कृत की नाटय-रचना पर्याप्त प्रौढ है, उनके पीछे अतीत भारत की कला, पांडित्य और विशेष दृष्टिकोण छिपा पडा है। उनका हिन्दी-अनुवाद प्रस्तुत होने पर हमे अपनी कला के प्रौढ दर्शन ही न होगे, हमे एक नवीन विचार-शक्ति और नयी प्रेरणा प्राप्त होगी।

बंगला से हुआ अनुवाद-कार्य उतना सतोषप्रद नही है, फिर भी अभी और प्रगति की आवश्यकता है।

मराठी से जो कार्य किया गया है, उस पर तो लज्जा लगती है। मराठी नाटक-रचना की दृष्टि से भारत की अतिसमृद्ध भाषा है। उसके नाटक साहित्यिकता के साथ-साथ रंगमंच की दृष्टि से भी पूर्ण है। इतना विशाल और पूर्ण नाटक-भंडार अभी राष्ट्र-भाषा हिन्दी के पाठकों-प्रेक्षकों से दूर है और वे चुप है, यह सोचकर भी आश्चर्य होता है। हिन्दी-नाट्य-कला की समृद्धि के लिये मराठी-नाटको के अनुवादो की बडी आवश्यकता है।

गुजराती-नाटको के अनुवाद की दशा भी कुछ अच्छी नही, श्री कन्हैयालाल मुंशी के

---

१ डा० नगेन्द्र, आधुनिक हिन्दी नाटक, पृष्ठ २।

नाटको के अनुवाद तो एक आकस्मिक घटना है। यदि वे हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन और हिन्दी-प्रदेश के सम्पर्क में न आते तो शायद उनकी रचनाओ से भी हिन्दी वाले परिचित न हो पाते। अन्य किसी लेखक के पौराणिक नाटक का अनुवाद तो है ही नही।

भारत की अन्य भाषाओ के नाटको की ओर तो अभी ध्यान दिया ही नही गया है। प्रसन्नता का समाचार है कि अ० भा० आकाशवाणी के द्वारा ऐसा प्रयत्न कई बार हुआ है, पर उससे नाटक-साहित्य पर कोई विशेष प्रभाव नही पड रहा है। इस ओर विशेष ध्यान अपेक्षित है।

अनुवादो से हिन्दी-नाट्य-कला को बहुत कुछ मिला है, इस ओर गति हुए बिना राष्ट्रीय रगमच की उन्नति नही हो सकती। अपने एक रेडियोभाषण मे प्रसिद्ध नाट्याचार्य मामा बरेरकर ने भी यही भावना व्यक्त की है। इस विषय मे बा० गुलाबराय का अभिमत ध्यान देने योग्य है :—

"सस्कृत और दूसरी स्वदेशी और विदेशी भाषाओ के अमर रत्नो को अवतरित करना प्रत्येक हिन्दी प्रेमी का धर्म है[1]।"

हिन्दी पौराणिक नाटको की शिल्प-विधि

१ हिन्दी नाटकीय शिल्पविधि और पौराणिक नाटक

हिन्दी मे नाटकीय शिल्पविधि का रूप कई प्रकार का देखने मे आता है। डा० नगेन्द्र[2] ने आधुनिक हिन्दी-नाटक की पृष्ठभूमि का विवेचन करते हुए हिन्दी-नाटक को प्राप्त "स्वदेशी विदेशी सम्पत्ति" का जो विवरण प्रस्तुत किया है, वह यद्यपि नाटकीय शिल्पविधि को लेकर नही है, वह तो आधुनिक नाटक को प्राप्त अतरग या भावात्मक सपत्ति का लेखा-जोखा है, फिर भी उसके द्वारा हिन्दी-नाटक की शिल्प-विधि पर प्रकाश पड जाता है, कि हिन्दी के नाट्य-साहित्य की शिल्प-विधि सस्कृत के नाट्य-शिल्प, अग्रेजी के बगला द्वारा प्राप्त शिल्प-विधान, पारसी रंगमचीय शिल्प और अंग्रेजी के यथार्थवादी शिल्प-विधान के समन्वय से बनी है। हिन्दी के आरभिक नाटक अवश्य इस शिल्पविधि के अन्तर्गत नही है। सत्रहवी शताब्दि के आस-पास के नाटक काव्यात्मक है, उनमें केवल कथोपकथन होने से ही उन्हे नाटक मान लिया गया है। भारतेन्दु से पूर्व की कुछ रचनाए इसलिए नाटक कही जाती है कि उनमे और भी कुछ नाट्य-तत्व आगये है। इस शैली का उत्कृष्ट रूप महाराज विश्वनाथसिह के "आनन्द रघुनन्दन" मे प्राप्त होता है। इस तथ्य को हिन्दी के कई विद्वानो[3] ने स्वीकार किया है।

---

१ हिन्दी नाट्य विमर्श (२९४३ स०) पृष्ठ ११३।

२. आधुनिक हिन्दी नाटक (प्र० स०) पृष्ठ २।

३ ब्रजरत्नदास, हिन्दी नाटक साहित्य (स० ४) पृष्ठ ५७, डा० सोमनाथ, हिन्दी नाटक साहित्य का इतिहास (तृ० सं०) पृष्ठ ४–५, डा० श्रीकृष्णलाल, हिन्दी साहित्य का विकास—नाटक प्रकरण।

हिन्दी का प्रथम युग आरभ में सस्कृत नाट्य-शिल्प को स्वीकार करके चला है, जिसमें भारतेन्दु ने पाश्चात्य शिल्पविधि का संमिश्रण कर एक नवीन शिल्पविधि का निर्माण किया। द्वितीय युग में नाटककारो ने यथास्थान इस विधान का यथेच्छ प्रयोग किया और तृतीय युग में अंग्रेजी का यथार्थवादी प्रभाव हिन्दी-नाटक पर छा गया। यह दूसरी बात है कि इस युग में भी पृथक्-पृथक् शिल्प-विधियो का प्रयोग करने वाले कुछ न कुछ नाटककार मिल जाते है। प० गोकुल चन्द्र शर्मा का "अभिनय रामायण" लीला-शैली का आधुनिक नाटक है, प्रभुदत्त ब्रह्मचारी के "श्री शुक" तीन अको की योजना के अतिरिक्त शेष सब सस्कृत शैली का है। राधेश्याम कथा-वाचक के नाटक पारसी रगमची कला का निखरा रूप है। गोविन्दवल्लभ पत के नाटक बगला-प्रभाव से समन्वित है और श्री लक्ष्मीनारायण मिश्र के नाटको मे पच्छिम की यथार्थता पूर्वीय होकर निखरी है।

सक्षेप में लीला शैली के नाटक वे है, जिनमें काव्य की अधिकता रहती है, कथोपकथन भी पद्य मे होते है। कही कही कथा-सूत्र का निर्वाह करने के लिये कोई अन्य पात्र गद्य मे बोलता है। सस्कृत-शैली के नाटक 'रूपक" कहलाते है। जिनके दस प्रधान भेद और अट्ठारह उपभेद होते है। इस शैली के मुख्य तत्व कथावस्तु, नायक और रस होते है[1]।

बगला के द्वारा जो यूरोपियन नाट्य-शिल्प हिन्दी में आया, वह शेक्सपियर कालीन अग्रेजी-नाटय-शिल्प की प्रतिच्छाया है। यह शैली बगाल में और बगला में १८३१ ई० मे ही आगयी[2] थी, समय पाकर यही हिन्दी मे आयी। डा० नगेन्द्र के अनुसार मुख्यत द्विजेन्द्रलाल राय के नाटको द्वारा हिन्दी में इसका समावेश हुआ[3]। यही पाश्चात्य शेक्सपियर कालीन शैली भारतीय वातावरण को ध्यान मे रख कर पारसी रगमचीय शैली मे अपनायी गयी।

यथार्थवादी शैली के प्रवर्तक स्क्रियन (नार्वे) के निवासी हैनरिक जान इब्सन (१८२८-१९०६) है। यह शेक्सपियर की रोमाटिक शैली के विरुद्ध प्रतिक्रिया थी। इस शैली मे सब दृष्टियो से स्वाभाविकता का समावेश होता है। रगमच की कृत्रिम चमक-दमक इसमे नही होती और भावना की दृष्टि से आध्यात्मिक विषयो के स्थान पर इसमे मानव जीवन की समस्याओ को विशेष स्थान मिलता है।

हिन्दी के पौराणिक नाटको मे प्राय इन सब शिल्पविधियो का उपयोग हुआ है, यथार्थवादी शिल्पविधि का भी, जिसमें आध्यात्मिकता का अभाव रहता है। सस्कृत-शिल्पविधि के मुख्यतत्व कथावस्तु, नेता और रस सभी हिन्दी पौराणिक नाटको मे अद्यावधि मिल जाते है। पुराणेतिहासादि प्रसिद्ध कथा, दिव्य या दिव्या दिव्य नेता, वीर, शृगार या करुणरस पुराण कथा पर निर्मित हिन्दी-नाटको में आरम्भ से अत तक है।

---

१ दशरूपक, प्रकाश १, श्लोक ११।

२. हेमेन्द्रनाथ दासगुप्त : इण्डियन स्टेज वाल्यूम २, पृष्ठ २ (१९४६ ई०)।

३. आधुनिक हिन्दी नाटक (प्र० स०) पृष्ठ २-४।

बंगला द्वारा प्राप्त पाश्चात्य शिल्पविधि के उदाहरण स्वरूप भारतेन्दु जी के "सत्यहरिश्चन्द्र" और "चन्द्रावली" (प्रथम युग), माखनलाल चतुर्वेदी का "कृष्णार्जुन युद्ध", बदरीनाथ भट्ट का "कुरुवन दहन" (द्वितीय युग), श्री कृष्णदत्त भारद्वाज का "अज्ञातवास", मोहनलाल जिज्ञासु का "पर्वदान" (तृतीय युग) आदि के नाम उल्लेख करना पर्याप्त है।

पारसी रगमच शैली के उदाहरण आगाहश्र तथा राधेश्याम कथावाचक आदि के नाटक हैं। पश्चिम की यथार्थवादी शैली के श्रेष्ठ उदाहरण सेठ गोविन्ददास का "कर्त्तव्य", उदयशकर भट्ट के "सागरविजय" और "अम्बा", लक्ष्मीनारायण मिश्र के "नारद की बीणा" और "चक्रव्यूह" आदि है।

इस विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि हिन्दी-नाट्य-साहित्य मे प्रयुक्त सभी शिल्पविधियो का योग हिन्दी-पौराणिक नाटको में प्राप्त होता है।

२. कथावस्तु

हिन्दी-पौराणिक नाटको की कथावस्तु पुराणेतिहासादि का प्रसिद्ध वृत्तान्त है, किन्तु कथावस्तु के ग्रहण मे नाटककारो ने जब-तब यथेच्छ परिवर्तन भी किये है। यह प्रथा हिन्दी-पौराणिक नाटककारो ने ही चलाई सस्कृत के पौराणिक नाटककार माघ, कालिदास, भवभूति आदि भी ऐसा कर चुके है। इनके नाटको की कथा मे मूल आधार से यथेच्छ परिवर्तन किये गये है[1]। हिन्दी मे भारतेन्दु से लेकर आधुनिक युग के नाटककारो तक ने इस स्वतत्रता को अपनाया है। तृतीय युग के नाटककारो ने तो पुराणवर्णित कथाओ को बुद्धि ग्राह्य और तर्क-सम्मत बनाने के लिए उनका रूप ही बदल डाला है। उदाहरण के लिए ल..ीनारायण मिश्र के नाटक "नारद की बीणा" मे हिरण्यकशिपु को सिह की खाल ओढ कर किसी मनुष्य के द्वारा मारे जाने के उल्लेख तथा सेठ गोविन्ददास के "कर्त्तव्य" (पूर्वार्ध) की सीता की अग्नि-परीक्षा विषयक कथा को प्रस्तुत किया जा सकता है।

हिन्दी के पौराणिक नाटको के लेखको ने पौराणिक कथाओ मे जो परिवर्तन, परिवर्द्धन और सशोधन किये है, मुख्य रूप मे उनके ये कारण हो सकते है —

१. कथा को सरस, नाटकीय तथा अपने आदर्श का प्रतिपादन करने योग्य बनाना।

२ किसी सामाजिक अथवा राजनीतिक प्रश्न को परोक्ष रूप मे जनता के सम्मुख प्रस्तुत करना।

३. पात्र विशेष का निर्दोष या सकारण विवशत: दोषी होना सिद्ध करना।

४ कथानक को मनोवैज्ञानिक, बुद्धिसगत, तर्क सम्मत रूप देना।

प्रथम कारण के उदाहरण लक्ष्मणसिह का अनुवाद "शकुतला", प्रतापनारायण मिश्र

---

१. भास-प्रतिमा तथा पञ्चरात्र, कालिदास-अभिज्ञान शाकुन्तलम् तथा विक्रमोर्वशीय, भवभूति-महावीरचरित तथा उत्तररामचरित की कथाएँ।

का "संगीत शाकुन्तल", द्वितीय के उदाहरण सुदर्शन कृत "अजना", उदयशंकर भट्ट कृत "विद्रोहिणी अम्बा" और "सगर विजय" तथा लक्ष्मीनारायण मिश्र कृत "नारद की वीणा", तृतीय के उदाहरण सद्गुरुशरण अवस्थी का "मझली रानी" तथा रागेयराघव का "स्वर्गभूमि का यात्री" एवम् चतुर्थ के उदाहरण रामवृक्ष बेनीपुरी का "सीता की माँ", और लक्ष्मीनारायण मिश्र का "चक्रव्यूह" आदि के परिवर्तन हैं। इस प्रकार हिन्दी के पौराणिक नाटको में पौराणिक कथा तीन रूपो में प्राप्त होती है।

१—नाममात्र को परिवर्तित कथा, जिसका कोई विशेष उद्देश्य नही है।

२—अशो में परिवर्तित कथा, जिसका कोई सामाजिक अथवा राजनीतिक उद्देश्य है।

३—आधार मात्र गृहीत कथा, जिसका उद्देश्य कथा को नवीन बुद्धिग्राह्य रूप में चित्रित करना होता है।

कथावस्तु की नाटकीय योजना के भी पौराणिक नाटको में तीन रूप प्राप्त होते हैं—कुछ नाटको की कथा सस्कृत की पंच सधि, कार्यावस्थाओ एवम् अर्थप्रकृतियो के अनुसार आयोजित हुई है (यद्यपि ऐसे नाटक बहुत कम हैं), कुछ की आयोजना पाश्चात्य-शैली पर हुई है, कुछ में दोनों प्रकार मिल सकते है और कुछ मे इब्सन की यथार्थ-शैली पर कथा का आयोजन होता है।

कथा-ग्रहण करने में हिन्दी-पौराणिक नाटककारों ने अप्रत्यक्ष प्रणाली को भी अपनाया है अर्थात्, कभी-कभी सीधे पुराणो से नही, सस्कृत के पौराणिक नाटको, काव्यो आदि से भी कथा ग्रहण कर ली गयी है। यह प्रथा अधिकाश से प्रचलित रही है। हिन्दी के काव्य "रामचरितमानस" और "सूरसागर" को भी यह गौरव मिला है।

२ चरित्र-चित्रण

हिन्दी के पौराणिक नाटको के चरित्र दिव्य या दिव्यादिव्य है, उनसे मानव किसी न किसी आदर्श की प्रेरणा पाता रहा है। किन्तु जिस प्रकार भारत के अन्य साहित्य के माध्यमो द्वारा समय-समय पर इन आदर्श पात्रो से भिन्न-भिन्न आदर्श प्रस्तुत किये गये है, वैसे ही हिन्दी के पौराणिक नाटको के भी चरित्रो द्वारा भिन्न-भिन्न आदर्श प्रस्तुत किये गये हैं। उदाहरणार्थ पौराणिक कृष्ण-चरित्र को लीजिए। राधेश्याम कथावाचक के नाटक "वीर अभिमन्यु" मे कृष्ण "भक्त के काज नगे पॉयन धाने" वाले है, सेठ गोविन्ददास के "कर्त्तव्य" में वे ही निष्काम कर्तव्य पालन करने की प्रेरणा देते है और रागेयराघव के "स्वर्ग-भूमिका यात्री"[१] मे वे अपनी व्यर्थता का रोना रोने वाले है।

इस प्रकार हिन्दी के पौराणिक नाटको में युगानुसारी, आदर्श चरित्रो की अनेक बार भिन्न सृष्टि हुई है। तृतीययुग मे इन आदर्श चरित्रो में एक परिवर्तन यह हुआ है कि ये आदर्श चरित्र

---

१ स्वर्गभूमि का यात्री, पृष्ठ ९७।

दिव्य न रहकर मर्त्य बन गये हैं—देवता से मानव, जिनमे दोष भी हैं। सेठ गोविन्ददास, गोविन्द-बल्लभ पत, रागेयराघव, लक्ष्मीनारायण मिश्र, उदयशकर भट्ट आदि के नाटको मे देवो को यह मानवता अथवा पुराणो को यह नवीनता प्राप्त हुई है। अनेक रगमचीय नाटको मे तो कभी-कभी यह यथार्थता इस रूप को पहुँच गयी है कि देवता और देवियो का चरित्र बड़ा निदित हो गया है[1] जहाँ पहिला प्रकार श्लाघ्य है, वहाँ यह निदनीय, परन्तु सौभाग्य है कि यह निन्द्य प्रकार अधिक नही चला।

जहाँ तृतीय युग मे ये आदर्श चरित्र मानवता की दृष्टि से देखे गये हैं, वहाँ आदर्श हीन चरित्रों को राक्षस नही माना गया है। उन्हें भी मानव माना गया है। परिणामस्वरूप पुराण-चरित्रो में दो परिवर्तन हो गये।

१—आदर्श चरित्र कुछ अपने स्थान से नीचे आये और उनके सभी कार्य निर्दोष और आदर्श न रहे।

२—आदर्श हीन पात्र कुछ ऊँचे उठे और उनके सभी दोष, दोष न रहे।

पहिली श्रेणी मे श्रीकृष्ण, राम आदि है, दूसरी मे रावण, मेघनाद, दुर्योधन आदि है, ये आदर्श पात्र "कर्त्तव्य" आदि मे दोषी भी है। और आदर्शहीन पात्र "मेघनाद" (चतुरसेन शास्त्री), "चक्रव्यूह" आदि मे दोषहीन भी है।

किन्तु इस सबका कारण अपने प्राचीन चरित्रो के प्रति नाटककारो का कोई दुर्भाव नही है, केवल उन्हे लौकिक दृष्टि से देखने का प्रयत्न मात्र है। उदयशकर[2] भट्ट, लक्ष्मीनारायण[3] मिश्र आदि नाटककारो ने यह स्पष्ट कर दिया है।

इस प्रकार सक्षेप मे हिन्दी के पौराणिक नाटको मे पहिले पुराणो के देवता की दिव्य रूप में पूजा की गयी है, फिर उसकी स्नह-भावना का अनुभव किया गया है और अन्त मे उसे अपना बना डाला गया है। उसके दोषो पर पर्दा न डाल कर उनका तर्क-सम्मत विवेचन किया गया है और इस प्रकार पत्थर में प्राण-प्रतिष्ठा की है।

हिन्दी-पौराणिक नाटको मे नाटककारो ने स्त्री-पात्रो के प्रति विशेष समवेदना दिखायी है। "मझली रानी" मे कैकेयी के प्रति, सेठ गोविन्ददास के "कर्त्तव्य" में सीता के प्रति, "स्वर्ग-भूमि का यात्री" मे कुन्ती के प्रति तथा इसी नाटक मे और कैलासनाथ भटनागर के "भीमप्रतिज्ञा" मे द्रौपदी के प्रति यही भावना प्रकट की गयी है। इन्हे निर्दोष एवम् आदरणीय सिद्ध किया गया है।

---

१ श्रीकृष्ण हसरत · गंगावतरण।

२ विद्रोहिणी, अम्बा—पृष्ठ ११—१२।

३. चक्रव्यूह : पूर्व रंग पष्ठ ४—५।

४. भाषा

हिन्दी के पौराणिक नाटको मे हिन्दी की इन विभाषाओ का रूप मुख्यत प्राप्त होता है — (१) ब्रजभाषा, (२) अवधी, (३) खडीबोली। खडी बोली के भी दो रूप प्राप्त होते हैं (क) संस्कृत प्रधान, (ख) उर्दू प्रधान।

आरभिक नाटको मे ब्रजभाषा की प्रधानता है —महाराज विश्वनाथ के "आनद-रघुनन्दन" की प्रधान भाषा ब्रजभाषा है, यद्यपि उसमे कई बोलियो—सस्कृत, फारसी, पैशाची, मराठी, अग्रेजी आदि अनेक भाषाओ—का प्रयोग वैचित्र्य है। इससे पूर्व के नाटको—प्राणचन्द चौहान कृत "रामायण महानाटक", हृदयराम कृत "हनुमान नाटक"—में ब्रजभाषा ही प्रधान है। किन्तु ईसवी उन्नीसवी शताब्दी के मध्य मे रचित हरिराम के "जानकी-राम चरित्र" मे खडी बोली गद्य का पर्याप्त अश है, "मधुकर" के "रामलीला विहार" मे तो खडी बोली को प्रधानता मिल गयी है। धीरे-धीरे नाटको में ब्रजभाषा का प्रयोग कम हुआ है और खडी बोली का बढा है। राजा लक्ष्मणसिंह कृत अनुवाद "शकुतला" मे तो गद्य सुन्दर सस्कृत प्रधान खडी बोली मे है, हाँ, पद्य ब्रजभाषा मे ही है, वैसे कही-कही गद्य मे भी ब्रजभाषा का प्रभाव है, जैसे "कन्व"।

भारतेन्दु जी ने गद्य मे खडी बोली और पद्य मे मुख्यत ब्रजभाषा का प्रयोग किया, किन्तु ब्रज सस्कृति प्रधान नाटक "चन्द्रावली" मे स्त्रियाँ ब्रज में ही बोलती हैं, हाँ, नायिका चन्द्रावती यथा-स्थान खडी बोली और ब्रज दोनो मे बोलती है। नायक कृष्ण भी ब्रजभाषा मे बोलते है। प्रथम-युग के पौराणिक नाटको मे भाषा का प्राय यही रूप प्राप्त होता है। बालकृष्ण भट्ट आदि के पौराणिक नाटको मे भाषा का यही रूप है—पद्य मे ब्रज, गद्य मे खडी बोली। गद्य की खडी बोली मे कही-कही उर्दू का प्रयोग[1] भी होने लगा है, कुछ[2] लोगो ने पद्यो में डिगल तक का प्रयोग किया है। पौराणिक नाटको के द्वितीय युग मे ब्रजभाषा का प्रयोग नही के बराबर है और तृतीय युग मे ब्रजभाषा पूर्णत हट जाती है।

अवधी का प्रयोग प्राय कम ही है, एक[3]-दो नाटको मे प्राप्त होता है, वैसे तो कन्नौजी[4] का पुट भी मिल जाता है।

खडी बोली का संस्कृत प्रधान रूप प्रसाद, भट्ट, लक्ष्मीनारायण आदि के नाटको मे है और उर्दू प्रधान रूप रगमचीय नाटको मे प्राप्त होता है। पर धीरे-धीरे रंगमचीय नाटको मे से भी उर्दू प्रधानता हटी है। अक्टूबर ५५ मे प्रकाशित "मयक" के "भगवान राम का बैकुठवास" में सरल सस्कृत प्रधान खडी बोली का प्रयोग हुआ है।

---

१ बालकृष्ण भट्ट : वेणुसहार, अक २, गर्भांक १।

२ हरिऔध . "प्रद्युम्न विजय व्यायोग"।

३ मिश्र बन्धुओं का "पूर्व भारत" तथा माधव शुक्ल का "महाभारत"।

४ बलदेवप्रसाद मिश्र का "प्रभास मिलन"।

प्राचीन भारतीय आचार्यों ने विभिन्न वर्ग और विभिन्न प्रदेशों के पात्रों के लिए नाटको में बोलने के लिए भाषा[१]-विभाग किया है, जिससे यह अनुमान होता है कि भारत में सर्वत्र नाटको के रुचिकर प्रयोग के लिये यह किया गया होगा। हिन्दी मे भी स्थान-स्थान पर विभिन्न प्रान्तीय भाषाओ का यथाक्रम प्रयोग किया जा सके तो यह कार्य राष्ट्रीय रगमच की एकता के लिये एक बड़ा काम होगा। विदेशी नाटकों[२] मे भी ऐसा हुआ है। सेठ गोविन्ददास ने इस प्रश्न पर विचार किया है और वे भी इसी निष्कर्ष पर पहुचे हैं[३]।

५ कविता का प्रयोग

भारत में नाट्य और सगीत का योग अत्यन्त प्राचीनकाल से है। सस्कृत के विभिन्न नाटक, बंगला यात्राए, मैथिली नाटक, गुजराती, भँवाई, मराठी दशावतारी खेल और सगीत नाटको मे पद्य और कविता की प्रधानता है। हिन्दी के आरभिक नाटक और रगमचीय नाटको मे पद्य की प्रधानता है, प्रथम युग मे गद्य की प्रधानता हो जाती है, किन्तु सवादो मे पद्य चलता रहता है, द्वितीय युग मे संवादो मे भी पद्य कम होता चलता है और तृतीय युग मे पद्य का प्रयोग इस रूप मे समाप्त हो जाता है। यह कार्य नाटक मे स्वाभाविकता के विचार से हुआ है। तृतीय युग के अनेक रगमचीय नाटको मे भी कथोपकथन मे गद्य का प्रयोग होता है। स्वाभाविकता की रक्षा तो इससे हुई, परन्तु हिन्दी-नाटको के इस पद्याभाव ने रगमचीय उत्तेजना और सौंदर्य को समाप्त कर दिया। हिन्दी के आधुनिकतम पौराणिक नाटको में यद्यपि कथोपकथनो मे पद्य नहीं मिलता, फिर भी प्राय सभी पौराणिक नाटको मे गेयपद प्राप्त हो जाते हैं। ये गेयपद है (१) नादीगीत, (२) पात्रो द्वारा मनोभाव प्रकट करने वाले गीत, (३) नर्तकियो और चारणो द्वारा गाये गये सामयिक गीत, (४) नेपथ्य गीत, इन चारो प्रकारो की गीत-योजनाओं मे प्रथम तीन का, आरंभिक तथा प्रथम युगीन पौराणिक नाटको मे प्रयोग मिलता है। रगमचीय नाटकों मे चारो प्रकार प्राप्त होते हैं, द्वितीय युग मे नादी का अभाव है, नेपथ्य-गीत का सफल प्रयोग "प्रसाद" कर सके हैं। तृतीय युग के नाटको मे आरभ मे द्वितीय युग का ही अनुकरण है, नवीनतम नाटको में अधिकतर तृतीय तथा चतुर्थ प्रकार की योजना है। इन गीतो का जन साधारण मे उतना अधिक प्रचार नही हुआ, हां, रगमचीय पौराणिक नाटको के गेयगीत जनता मे अधिक प्रचलित हुए है। इनके दो कारण है, एक तो रगमचीय नाटको मे प्राप्त गीतो की भाषा तथा भावगत सस्तापन तथा साहित्यिक नाटको में प्राप्त गीतो की दुरूहता तथा सगीततत्त्व-ज्ञान की अपूर्णता। रग-मच मे जहां गेयतत्व पर ध्यान दिया गया है, वहाँ साहित्यिक जनों ने काव्य पक्ष पर ही अधिक बल दिया है। काव्यकला और सगीतकला का समुचित समन्वय करना अभी शेष है।

---

१ विश्वनाथ-"साहित्य दर्पण", परि० ६, का० ४४३।

२ बर्नार्डशा : "पेगमिलियन" तथा "प्रेस कटिंग"।

३. "तीन नाटक" (प्र० स०) प्राक्कथन पृष्ठ ३०–३२।

६ उद्देश्य

पौराणिक नाटको का मुख्य उद्देश्य तो—प्रत्यक्षत या परोक्षत मानव मन के धार्मिक भावों की सतुष्टि ही रहा है, पर जैसे-जैसे धार्मिक प्रवृत्ति बदलती गयी है, इस धार्मिक भावना की सतुष्टि के प्रकार मे अन्तर आता गया है। आरभिक पौराणिक नाटक जहाँ धार्मिक सतुष्टि और वीरपूजा की भावना को सतुष्ट करने में ही अपना कर्तव्य समाप्त कर लेते थे, वहा आधुनिक नाटक इस धार्मिक पौराणिक वातावरण की पष्ठभूमि पर सामाजिक, राजनीतिक तथा धार्मिक समस्याओ को भी देखने लगे—इस समग्र की प्रवृत्ति को एक शब्द मे कहा जा सकता है—"सत्य की खोज"। यह "सत्य की खोज" अपने-अपने समय के अनुसार पौराणिक नाटको मे सदा हुई है। आरभिक युग मे धार्मिकता को प्रश्रय देकर सत्य स्पष्ट किया गया, द्वितीय युग मे सामाजिक तत्त्व भी इसमें सम्मिलित हुआ, जो धीरे-धीरे बदलता हुआ आज अपनी सीमा को पहुच गया है। आज पौराणिक हिन्दी-नाटको के उद्देश्य मे आचार-शीलता की वृद्धि—कामना पातिव्रत, आत्मत्याग, धर्मपरायणता, मनुष्यत्व की चेतना, अन्तर्जातीय विवाह, देव और मानव का ऐक्य, अन्न समस्या, राजा-प्रजा का प्रश्न आदि सभी आये हैं। इस रूप में पौराणिक नाटको के पीछे जीवन को सम्पूर्ण रूप मे अविचलित हो परखने की प्रेरणा, नैतिक मार्ग पर दु ख सह कर भी अडिग चलाते रहने का उत्साह, सत्य मार्ग पर अनुसरण कराते रहने की सुप्रवृत्ति, तथा मानव-मन को आध्यात्मिक शान्ति प्रदान करने का प्रयत्न लक्षित होता है। मानव को श्रद्धा, कर्तव्य-पालन आदि उच्च मानव धर्मों को स्वीकार करने एवम् शान्ति और व्यवस्था के मार्ग पर चलने की कलात्मक, आनददायक, माहक प्रेरणा देना पौराणिक नाटकों का सर्वकालीन उद्देश्य रहा है। यह भी हुआ है कि कभी नाटककार अर्थ, यश आदि सासारिक प्रलोभनो मे फस कर अपने मार्ग से भटक गया है, पर उसका उद्देश्य उसकी आखो से पूर्णत ओझल कभी नही हुआ। हिन्दी के आदि पौराणिक नाटक से लेकर अत्याधुनिक पौराणिक नाटक तक मे जीवन को शुभ, सत्य, शिव और मगलमयी प्रेरणा देने की परायणता सदा रही है।

श्री अम्बाशंकर नागर, एम० ए०

महेरामणसिंह कृत 'प्रवीण सागर'

राजकोट के जाडजा राजकुमार महेरामणसिह का नाम गुजरात के हिन्दी कवियो में बडे गौरव के साथ लिया जाता है। आज भी आपकी रचनाएं कच्छ काठियावाड और गुजरात के भाट चारणो को कठस्थ याद हैं और उन्हे गाने मे वे एक प्रकार के गौरव का अनुभव करते है।

राजकुमार महेरामणसिह का जन्म सवत् १८१३ मे और मृत्यु १८५२ मे हुई।[1] आप अपने पिता के राज्यकाल मे ही चल बसे और गद्दी पर नही बैठ पाये। इन्होने अपने छ मित्रो की सहायता से सवत् १८३८ की श्रावण सुदी पचमी मगलवार को प्रवीणसागर नाम के एक बृहद् हिन्दी ग्रथ की रचना प्रारभ की—

सवतअष्टादश सरजत, तीस आठवाला बरतंत।
सावन सुदि पचमि कुजवार, कियो ग्रन्थ को मगलचार॥
—लहर १, छद १७

इस ग्रथ का साधारण सा उल्लेख मिश्र-बधुओ ने अपने ग्रथ मिश्रबधु विनोद के दूसरे और तीसरे भाग मे किया हे। दूसरे भाग में वे लिखते है —

नाम—(१०३३) महेवा प्रवीण या कला प्रवीण ग्रथ—प्रवीन सागर

कविताकाल—१८३८

और तीसरे भाग मे इसी ग्रथ का उल्लेख इस प्रकार किया गया है —

नाम (३४१५/१) नाम महरामणजी

ग्रथ—प्रवीण सागर

विवरण—राजकोट निवासी। यह ग्रथ पूर्ण होने के पहले ही आपकी मृत्यु हो गयी। अत संवत् १६४५ मे गोविन्द गिल्लाभाई ने इसे पूर्ण किया।

इसके अतिरिक्त हिन्दी साहित्य के इतिहासो मे इस ग्रथ का उल्लेख नही मिलता। मिश्र-

---

१ देखिए 'प्रवीणसागर' प्रकाशक ऐंग्लो वर्नाक्यूलर प्रेस, सन् १८९२, संपा० गोविन्द गिल्ला भाई।

बंधुओ ने भी सभवत इस ग्रंथ को पूरी तरह देखा नही अन्यथा वे एक ही ग्रंथ का उल्लेख अलग-अलग रचयिताओं के नाम के अतर्गत न करते और यह भी कि अगर हिन्दी का इतना बृहद और विशाल ग्रंथ उनके देखने मे आया होता तो वे उसका चलता-सा उल्लेख न करके सविस्तार उल्लेख करते।

मिश्रबन्धु विनोद भाग—२ में उन्होने इस ग्रथ को कला प्रवीण का रचा माना है।[1] पर कला प्रवीण तो इस ग्रथ की नायिका का नाम है, किसी रचयिता का नही। अब हम इस ग्रथ पर जरा विस्तार से विचार करेंगे—

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है इस ग्रथ की रचना राजकुमार महेरामणसिहजी ने अपने छ मित्रो की सहायता से की थी। इस बात की पुष्टि निम्नलिखित छद से भी होती है—

> मित्र सात मिल कैं रच्यो, प्रवीन सागर ग्रन्थ।
> तिनमें दरसायो भलो, प्रेम नेम को पन्थ॥
>
> —लहर ८४, छंद १४

इन सात मे से एक तो महेरामणसिह स्वय थे। शेष छ मित्र कौन थे इस सबध मे कोई प्रामाणिक जानकारी प्राप्त नही होती। जनश्रुति के आधार पर इन छ मित्रो के नाम ये हैं —

१ देवदान कवि—राजकोट के साधु और कवि
२ जेसो लागावदरो—राजकोट के दरबार का दशोदी चारण
३ जीवन विजय पूज—कवि
४ पुरोहित अदागरजी—विनोदी
५ लालजी सुनार—उत्तर भारत के निवासी सगीतज्ञ
६ शेख रहीम—सिध निवासी घोडो का सौदागर, उर्दू फारसी का जानकार

इन सात मित्रो के अतिरिक्त इस ग्रथ की रचना में लीबडी की राजकुमारी सुजानबा का भी हाथ माना जाता है। ऐसा कहा जाता है कि जिन छदो में सागर को सबोधित किया गया है वे सुजानबा के रचे हुए हैं। साथ ही इस ग्रथ की रचना मे गुजराती भाषा के सुप्रसिद्ध कवि दलपतराम डाह्या भाई और गोविन्द गिल्लाभाई का भी हाथ है। इन दोनों महानुभावो ने अलग-अलग इस अपूर्व ग्रथ का सटीक सपादन किया है और अतिम १२ लहरो (सर्गों) मे जहा कही आवश्यकता हुई है अपने-अपने ढग से मौलिक रचनाएँ करके इस अपूर्ण ग्रथ को पूरा किया है।

हिन्दी के बहुत से इतिहासकारो ने गोविद गिल्लाभाई की रचनाओं मे प्रवीण सागर का नाम भी लिख दिया है[2] पर वस्तुत. वे प्रवीण सागर के सग्रहकर्ता, सपादक और टीकाकार ही हैं।

---

१ देखो गुजराती प्रेस द्वारा प्रकाशित 'प्रवीण सागर' की पुरवणी (परिशिष्ट)
२ देखो रामचन्द्रशुक्ल का 'हिन्दी साहित्य', का स० १९९७, पृष्ठ ७०० ।

प्रवीण सागर की कथा

इस विशाल ग्रथ पर विचार करने से पूर्व इसकी कहानी को जान लेना उचित होगा। प्रवीण सागर की कहानी सक्षेप में यह है —

एक बार भगवान शकर की आज्ञा से कैलास मे शिवरात्रि के दिन एक महोत्सव हुआ। जिसमे भाग लेने के लिए देवता, यक्ष, किन्नर, गधर्व इत्यादि एकत्रित हुए। विचित्रानन्द नामक एक शिवगण अपनी पत्नी चित्रकला के प्रेम मे रत होने के कारण इस अवसर पर शिवजी की सेवा मे उपस्थित न हो सका। विकटानन्द नामक एक कुटिल शिवगण ने विचित्रानन्द तथा उसकी पत्नी की इस लापरवाही की ओर शिवजी का ध्यान आकर्षित किया। शिवजी ने कुपित होकर दपति को शाप दिया। परिणाम स्वरूप दीर्घकाल तक विरह दु ख सहने के लिए दोनो को मृत्यु-लोक मे जन्म लेना पडा। शिवगण विचित्रानन्द के साथ उनके छ अतरग मित्रो ने भी मृत्युलोक मे जन्म लिया और चित्रकला के साथ उसकी सखी पुष्पावती भी शिवलोक छोडकर पृथ्वी पर जन्मी।

विचित्रानन्द का जन्म नेहनगर के राजा प्रदीप के घर हुआ और चित्रकला का जन्म मछापुरी के राजा नीतिपाल के यहा हुआ। इस जन्म में विचित्रानन्द का नाम सागर और चित्र-कला का नाम प्रवीण रखा गया।

राजकुमार सागर अत्यत सुन्दर और सर्वगुणो मे सपन्न था। काव्य, सगीत, चित्र आदि कलाओ मे वह अत्यत प्रवीण था और मृगया, आखेट युद्ध आदि पुरुषोचित कार्यों में भी वह निपुण था। इसी प्रकार राजकुमारी प्रवीण भी अलौकिक सौदर्य और गुणो मे सपन्न थी। ललित कलाओ का उसे तलस्पर्शी ज्ञान था। सगीत और काव्य मे वह साक्षात् सरस्वती थी। इन दोनो की कीर्ति दूर-दूर तक फैली हुई थी।

राजकुमारी के रूप गुण की चर्चा सुनकर सिध देश के कूराबाद नामक नागर के तरणतेज नामक राजा ने अपने पुत्र रगराव की सगाई का सदेश प्रवीण के पिता के पास भेजा। घर और वर दोनो अच्छे है यह समझकर प्रवीण के पिता ने यह सबध स्वीकार कर लिया और प्रवीण की सगाई रगराव के साथ हो गयी।

राजकुमार सागर शिकार खेलने का बडा शौकीन था एक बार वह खूब सजधज कर अपने इष्ट मित्रो तथा सेना के साथ शिकार खेलने निकला। मछापुरी के राजा नीतिपाल ने समझा कोई दुश्मन दल बल सहित राज्य पर चढ आया है इसलिए वह भी अपनी सेना लेकर मुकाबले पर आया। पर शीघ्र ही उसकी शका दूर हो गयी और वह राजकुमार को मानसम्मान के साथ मछापुरी मे ले गया।

मछापुरी मे राजकुमार ने राजकुमारी प्रवीण को राज महल के झरोखे में चिक की ओट मे खडे देखा और उसके अलौकिक रूप पर मुग्ध हो गया। राजकुमारी भी हाथी के हौदे पर बैठ वीर और पराक्रमी राजकुमार का सौन्दर्य देख कर मोहित हो गयी। कुछ समय मछापुरी मे बिताकर राजकुमार अपने साथियो के साथ अपने देश नेहनगर चला गया।

कुछ समय पश्चात् मारवाड़ के मुदितपुर नामक नगर के राजा संग्रामसेन की कन्या से सागर का विवाह हो गया। नई रानी के साथ हास विलास में कुछ ही समय बीता था कि एक दिन कुछ नर्तकियाँ नेहनगर में आयी। राजकुमार सागर के सामने उन्होंने अपनी कला का प्रदर्शन किया और अंत में प्रवीण के बनाये हुए पद गाये —

"प्रेम बान दै गयो, न जाने कितै गयो।
सु पन्थी मन ले गयो, झरोखे वृग लाय कै॥"

इन पदो को सुनकर सागर की सोई हुई स्मृतियाँ जाग उठी। उसी क्षण से वे प्रवीण की याद मे पागल से रहने लगे। यह देखकर उनके मित्रो ने उन्हें राजकुमारी को पत्र लिखने की सलाह दी। मित्रो की सलाह से राजकुमार ने प्रवीण को एक प्रेम पत्र लिखा और इस पत्र को गुप्त रूप से पहुचाने का काम उन्होने अपने अतरग मित्र कवि भारतीनन्द को सौपा। भारतीनन्द मछापुरी गये और एक सन्यासी का वेश बनाकर वहाँ रहने लगे। सयोग से उनका परिचय राजकुमारी प्रवीण की सखी कुसुमावली से हो गया। यह परिचय शनै शनै प्रेम मे परिणत हो गया। भारतीनन्द ने कुसुमावली के द्वारा सागर का पत्र प्रवीण तक पहुँचा दिया।

सागर का पत्र पढकर प्रवीण मूर्छित हो गयी। एक तरफ कुल की मर्यादा और लोकलाज थी, दूसरी तरफ था प्रेम! प्रवीण के हृदय में बहुत समय तक द्वद्व चलता रहा। अत में विजय प्रेम की ही हुई। उसने शिवमदिर मे जाकर आजीवन कुँआरी रहने का 'कौमार्य व्रत' लिया और किसी अन्य पुरुष का ध्यान न करके सदा सागर के प्रेम मे रत रहने का निश्चय किया। इस प्रकार भावी जीवन के प्रति निर्णय करके अत मे प्रवीण ने प्रत्युत्तर मे सागर को आँसुओ मे भीगा पत्र लिखा।

उत्तर पाकर सागर को प्रवीण से मिलने की उत्कठा हुई उसने एक तबीब (वैद्य) का वेश बनाया और प्रवीण से मिलने के लिए चल पडा। अपने आयुर्वेद के ज्ञान से राज्य के अधिकारियो को प्रभावित करके उसने जैसे तैसे अत पुर मे प्रवेश पा लिया और प्रवीण से भेंट की। सागर से मिलकर प्रवीण की दशा सुधर गयी। यह देखकर राजा बहुत प्रसन्न हुआ और उसने बहुत मान सम्मान के साथ वैद्यराज को विदा किया।

इस क्षणिक मिलन के पश्चात् राजकुमार और प्रवीण का मन फिर चिर वियोग के भय से भीत हो उठा। उधर भारतीनन्द और कुसुमावली भी एक दूसरे से मिलने के लिए व्याकुल थे। अत काफी सोच विचार के बाद नेहनगर और मछापुरी की सीमापर नैनतरग गाव मे राज कुमार सागर ने एक शिव मदिर की स्थापना की। शिवमदिर के उद्घाटन के उपलक्ष में एक बडा समारोह किया गया जिसमें मछापुरी के राजा नीतिपाल को भी सपरिवार आमन्त्रित किया गया। इस युक्ति का आशय समझकर प्रवीण और कुसुमावलि निश्चित दिन शिव मदिर मे पहुँची। सागर और भारतीनन्द मदिर मे सिद्धो का वेश बनाकर पहले से ही बैठ गये थे। इसलिए एक बार फिर इन प्रेमिकाओ का मिलन हो सका।

सागर और प्रवीण अब एक दूसरे के इतने निकट आ गये थे कि एक क्षण का वियोग भी उन्हे असह्य प्रतीत होता था। समय को व्यतीत करने के लिए वे सदा एक दूसरे को लम्बे पत्र लिखा करते थे। इन पत्रो में विविध ऋतुओ का और विरह विह्वल प्रेमियों की मनोदशा पर उनके प्रभावो का बडा ही मार्मिक वर्णन है।

एक पत्र मे प्रवीण ने लिखा कि वह अपनी सखियो के साथ द्वारका की यात्रा के लिये जाने-वाली है। सूचना पाकर राजकुमार सागर भी अपने अतरग मित्रो के साथ द्वारका के एक मदिर मे ब्रजराज गोसाईं के नाम से जा विराजे। प्रवीण और कुसुमावली अपनी सखियो के साथ दर्शन करने के बहाने मदिर मे आयी। दीक्षा देने के बहाने ब्रजराजगोसाईं (सागर) ने राजकुमारी को निकट बुलाकर उससे मनचीती बातचीत की। भारतीनन्द और कुसुमावली का भी मिलन हुआ।

इस क्षणिक मिलन और फिर चिरवियोग के कारण राजकुमार के मन को सदा क्लेश होता रहता था। इसबार इष्ट साधना के निमित्त वे अपने मित्रो के साथ जोगी होकर घर से निकल पडे और मछापुरी में अलख जगाते हुए बद्रिकाश्रम की ओर चले गये। सागर का यह रूप देखकर राजकुमारी को भी बडा दुख हुआ उसने भी कीमती वस्त्र और आभूषण त्याग दिये और जोगन का वेश धारण करके रहने लगी।

बद्रिकाश्रम में राजकुमार की भेट प्रभानाथ सिद्ध से हुई। सात मित्रो की दृढ़निष्ठा से प्रसन्न होकर उन्होने उन्हे यम, नियम, आसन, प्राणायाम, षटचक्र, कुभक, महामुद्रा समाधि और शिवभक्ति की विधि बताई। आदेशानुसार इन मित्रो ने कठोर साधना की जिसे देखकर प्रभानाथ सिद्ध अत्यत प्रसन्न हुए और उन्होने शिवजी से जाकर निवेदन किया कि वे शीघ्र ही इन विरह से व्यथित शिवगणो का उद्धार करे। शिवजी प्रसन्न हुए और उन्होने शिवरात्रि के दिन नैनतरग के शिवमदिर मे सबको मिलकर महापूजा करने का आदेश दिया।

सातो मित्र बद्रिकाश्रम से मछापुरी होते हुए नैनतरग के शिवमदिर मे पहुँचे। प्रवीण तथा उसकी सखी कुसुमावली को भी शिवजी के आदेशानुसार शिवरात्रि के महोत्सव मे उपस्थित रहने की सूचना दी गयी।

महाशिवरात्रि के उत्सव मे हजारो की सख्या मे लोग एकत्रित हुए। प्रवीण और कुसुमा-वली भी उस महोत्सव मे भाग लेने पहुँची। सातो मित्र सप्त ऋषि से तेजस्वी दिखाई देते थे और दोनो सखियाँ रति रभा सी सुदर प्रतीत होती थी। प्रभानाथ सिद्ध भी पूजा के समय प्रकट हुए। पूजा समाप्त होने पर इन सब की देह से दिव्य ज्योति प्रकट हुई। सागर और प्रवीण का हस्त-मिलाप हुआ। उन्होने शिवजी को मस्तक नवाया इतने मे देवलोक से विमान आये जिनमें से एक में सागर और प्रवीण, दूसरे मे भारतीनन्द और कुसुमावली तथा अन्य विमानो मे बाकी मित्र बैठकर शिवपुरी चले गये।

प्रवीण सागर ८४ सर्गों का एक विशाल काय प्रबधकाव्य है। सन् १९११ मे गुजराती प्रेस द्वारा प्रकाशित सटीक प्रवीणसागर मे ८८२ पृष्ठ है जिनमे कुल मिलाकर २३३७ छद है। इस काव्य की सबसे पुरानी प्रति ईडर मे सुरक्षित है जिसके आधार पर वही के महाराजा ने सन्

१८६७ में इसे लिथो मे छपवा कर प्रकाशित करावाया। ईडरवाली प्रति में केवल ६० लहरें (सर्ग) हैं। इस अपूर्ण ग्रथ के शेष अशो का सग्रह् सपादन बाद मे श्री दलपत राम डाह्या भाई और गोविंद गिल्लाभाई ने किया। इन महानुभावो ने ६० से ७२ तक की लहरे गुजरात के भाट चारणो के पास खोज निकाली और अतिम १२ लहरो की अलग-अलग ढग से जनश्रुति के आधार पर स्वय रचना करके इस अपूर्ण ग्रंथ को पूर्ण किया[1]।

इस ग्रथ का नामकरण ग्रथ के नायक नायिका के नामो के आधार पर हुआ है। ग्रथ की नायिका का नाम प्रवीण है और नायक का नाम सागर है। अत इस ग्रंथ का नाम 'प्रवीण सागर' सर्वथा समुचित है। नामकरण के और भी कुछ करणो की कल्पना की जा सकती है। एक तो यह कि इसके रचयिता का नाम महेरामण (अर्थात् सागर) इसलिए उसने इस ग्रथ का नाम 'सागर' और प्रकरणो का नाम लहर रखा है। दूसरा कारण यह हो सकता है कि कवि ने इस ग्रथ की रचना प्रवीणो के मनोरजन के लिए की है। प्रवीणो का मनोरजन करने वाला यह ग्रथ सागर के समान ही विशद और विशाल है। बहुत सभव है इस अभिप्राय से भी इसका नाम 'प्रवीण सागर' रखा गया हो।[2]

यह ग्रथ काल्पनिक है अथवा किसी सत्य घटना पर आधारित है—यह विषय बडा विवादास्पद है। अधिक लोगो का कहना यही है कि इस ग्रथ की रचना एक सत्य घटना के आधार पर हुई है। पर क्योकि उस घटना का सबध सौराष्ट्र के राजघरानो से था इसलिए उन्होने इसे यथा॰ शक्ति दबाने का प्रयत्न किया। प्रवीण सागर की मूल प्रतियाँ भी उन्होने नष्ट करवा दी। पर इश्क और मुश्क छुपाए नही छुपते। राजघरानो के ऐसे प्रयत्नो से इस घटना के सबध में जो शकाएँ थी वे निश्चय मे बदल गयी। लोगो को विश्वास हो गया कि यह घटना इन्ही राज परिवारो से सबधित है। सक्षेप में सत्य कथा यह बताई जाती है :—

राजकोट के राजकुमार महेरामणसिह किसी कारणवश कुछ दिनो तक लीबडी के ठाकुर के मेहमान रहे। वहा पर ठाकुर की लडकी सुजान से उनका प्रेम हो गया। दोनो एक दूसरे के सर्वथा योग्य थे पर इनका विवाह इसलिए नही हो सका कि सुजान की सगाई पहले ही कच्छ राव के कुमार से हो चुकी थी जिसका तोडना किसी भी तरह सभव नही था। अत प्रवीण आजन्म कुंआरी रही और महेरामण से प्रेम करती रही।

इसी प्रेम कथा को प्रवीण सागर में पात्रो और स्थलो के नाम बदल कर कहा गया है। सभी नाम समानार्थक शब्दो द्वारा बदले गये है। महेरामण का नाम सागर, सुजान का नाम प्रवीण

---

१. देखिए : प्रवीण सागर – गुजराती प्रेस – १९११

प्रवीण सागर – गुजरात गजट तथा ऐंग्लो वर्नाक्यूलर प्रेस १८९२।

२ 'ज्यों सागर में मिलत हैं, सरिता आइ अपार।

सार त्योंहि बहु ग्रन्थ को, है यह ग्रन्थ मझार॥'

—लहर ८४, छंद १५

और सुजान की सहेली फूलबाई का नाम बदल कर कुसुमावली कर दिया गया है। ऊपर बताये हुए महेरामणसिंह के छ मित्रो के नामो को भी कथा में बदला गया है। कथा में इन मित्रो के नाम क्रमश: ये है[1]—१ भारतीनन्द २ रविज्योत ३ वीरभद्र ४ सत्रसाल ५ रत्नप्रताप और ६. कुँअरउमराह (दष्टिकेतु)

इसी प्रकार राजकोट और लीबडी स्थलो के कल्पित नाम नेहनगर और मछापुरी रखे गये हैं। कथा को श्रद्धास्पद और रोचक बनाने के लिए उसमे शिवगणो का प्रसग भी जोड दिया गया है। इस आध्यात्मिक सस्पर्श से इस साधारण सी लौकिक प्रेम कथा मे अलौकिकता आगयी है।

प्रवीण सागर एक बृहदाकार प्रबध काव्य है। इसमे महाकाव्य के सभी गुण मौजूद है। इसका नायक दैवी गुणो से सपन्न, क्षत्रियकुलोत्पन्न राज कुमार है। काव्य का अगीरम शृगार है शेष रसो की भी काव्य मे सुन्दर अवतारणा है। कथानक यद्यपि पौराणिक, ऐतिहासिक अथवा परम्परा सम्मत नही है पर वह दैवी गुणो से सपन्न एक राजकुमार और राजकुमारी की प्रेम कथा से संबधित है और उसमे अलौकिक तत्वो का समावेश है इसलिए वह महाकाव्य के सर्वथा अनुकूल है। ग्रथ के प्रारम्भ मे परपरागत मगलाचरण तथा गणपत, शारदा, शिव, ब्रह्मा राधा-कृष्ण आदि देवी देवताओ की स्तुतियाँ है। तथा ग्रथ धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का देनेवाला है।

इस ८४ सर्गों को बृहद प्रबन्ध काव्य मे प्रात मध्याह्न, सध्या रात्रि, दिवस, वन, पर्वत, सागर, यज्ञ, मृगया, सैन्य आक्रमण, युद्ध, स्वर्ग, षटऋतु, सयोग, वियोग विवाह आदि सविस्तर वर्णन है। महाकाव्य के इन परपरागत वर्ण्य विषयो के अतिरिक्त यह ग्रथ ज्योतिष, राजनीति, आयुर्वेद, काव्यशास्त्र, कोकशास्त्र, सगीत शास्त्र, नाटय शास्त्र, अलकारशास्त्र छदशास्त्र, नायक नायिका भेद, शकुनशास्त्र, सामुद्रिकशास्त्र तथा अष्टाग योगादि शास्त्रो के ज्ञान विज्ञान का ऐसा अतुलित भंडार है कि यदि इसे 'ज्ञान मजूषा' (एन साइक्लोपीडिया) कहा जाय तो अत्युक्ति न होगी।

इस ग्रंथ मे प्रचलित-अप्रचलित अनेक छदो, भाषाशैलियो और चित्र काव्यो का समावेश है। निम्नलिखित छदो का प्रयोग विशेष रूप से किया गया है —

दोहा, चौपाई, सोरठा, कवित्त, गाथा, पद्धरी मुक्तदाम, छप्पय, सवैया, झूलना, तोटक मालती, मनहरण, भुजग प्रयात, तोमर नाराच, उपजाति, हाकलि और चामर। इनके अतिरिक्त—

हनुफाल, मधुभार, चद्रावला, शखनारी, विजोह चपकमाल, सरस्वती, महालक्ष्मी, चद्रिका, आभीर निशिपालिका, दोधक, प्रिया आदि अप्रचलित छदो का भी प्रयोग मिलता है।

छदो की ही भाति इस ग्रथ मे विविध भाषाओ और भाषाशैलियो का भी प्रयोग हुआ है। ग्रथ के कुछ अश मनोरजन के लिए गुजराती, मराठी, कच्छी, मारवाडी, माथुरी (व्रज) यावनी

---

१ सागर मित हितकारी, भारतिनन्द, कवि रविजोतं।
बीरभद्र सत्रसालं, रतन प्रताप कुअर उमराहं॥

—लहर ८, छंद ११

(उर्दू) पंजाबी और संस्कृत आदि भाषाओ में भी रचे गये हैं।[1] वैसे संपूर्ण ग्रंथ हिन्दी में लिखा गया है पर भाषा में स्थिरता और एकरूपता नही है। कही उसका स्वरूप डिंगल के जैसा भासता है तो कही ब्रजभाषा सा, कही खडी बोली की झलक भी उसमें दिखाई देती है। निम्नलिखित उद्धरणो से यह बात स्पष्ट हो जायगी —

(१)

षटं पंच राग त्रिया रागं षट्ट, हुअ चत्र अट्टं चुला लाग बट्ट।
अबोल दस तार आलाप अट्ठं, सबें गानके तान चोलीस सट्ठं॥
आरोही सुरोही सुचाही असतं, सुगानं दशं अष्ट ताल समस्त।
खरे भत्य खासे सभा खास खेलं, करे प्रेम बत्त कथा काम केलं॥

—लहर ४, छन्द १६

(२)

कति फेंट छोरन में, भ्रकुटि मरोरन में, सीस पेंच तोरन में, अति उरझायकें।
मन्द मन्द हांसन मे, बरुनी विलासन मे, आनन उजासन मे, चकचौंध छायकें॥
मोती मनि मालन में, सोसनी दुसालन मे, त्रिकुटी के तालन में, चेटक लगायकें।
प्रेम बान वे गयो, न जाने किते गयो, सुपन्थी मन ले गयो, झरोखे दृग लायकें॥

—लहर १९, छन्द १३

(३)

कोई अजब तमासा देखा, जहाँ रूप रंग की रेखा॥टेक॥
अजब गैबि इक महल बना है, सब दुनिया से न्यारा।
चन्द सूर की किरन न पहुँचे, अखण्ड ज्योत उजियारा॥अजब॥
उपर सरोवर अमृत भरिया, वापर बैठे हंसा।
मुगता फलको चुग चुग खावे, वाको लोहू न मन्सा॥अजब॥
बिना बादरे मेह मंडाना। धरती परे न पानी।
जानन हारे भेद बिचारे, मेह प्रवीन निशानी॥अजब॥

—लहर ७१, छंद १७

हिन्दी की विविध शैलियो के नमूने देख चुकने पर अब ग्रंथ की ७६ वी लहर मे प्रयुक्त विभिन्न भाषाओ की भी बानगी देखिए। प्रवीण को विरह विह्वल देखकर उसकी गुर्जरी, कच्छी, महाराष्ट्री, मरुदेशी, माथुरी, यावनी गीर्वाणा आदि सखियाँ उसे अपनी-अपनी भाषा में सीख देती है। निस्संदेह सखियो की ये उक्तियाँ कवि के बहु भाषा-भाषी होने की परिचायक हैं। गुर्जरी, महाराष्ट्री, यावनी और गीर्वाणा सखियो की उक्तियाँ यहाँ उद्धृत की जाती है :—

---

१. देखिए लहर ७६; यह अंश दलपतराम डाह्या भाई द्वारा रचा गया है।

गुजराती सखी उक्त

कवित्त

कहे गुजराती तारी पीड़ा तो कलाती न थी।
मनमां मुंझाती डीले दूबली देखाती छे।
न्हाती न थी खाती न थी, गीत मुखे गाती न थी।
बोलती लजाती बाधा जेवी तू जणाती छे।
राती राण जेवी हती दीसे छे सुकाती जाती।
आंखो राती राती तारी छाती तातो ताती छे।
प्रवीण पंकाती तू तो गुणीमां गणाती पण।
भासे एवी भांती जाणे भ्रांतिमां भमाती छे ॥१४॥

[गुजराती सखी कहती है —तेरा दुख समझ मे नही आता। पर यह स्पष्ट है कि तू मन ही मन मे घुल रही है और पहले से क्षीण दिखाई पडती है। तू न नहाती है, न खाती है, न पहले की तरह गीत ही गाती है; तू तो बोलने तक मे लजाती है। ऐसा लगता है जैसे तूने न बोलने का प्रण कर लिया हो। पहले तू रायण की जैसी लाल थी पर अब तू दिन-दिन सूखती जाती है। तेरी आँखें लाल हो रही हैं और तेरी छाती गरम है। बात क्या है? हे प्रवीण, तू तो बहुत सयानी है, तेरी गणना गुणियो मे होती है पर मुझे तो ऐसा लगता है कि तू पागलपन के चक्कर मे फँस गयी है।]

महाराष्ट्री सखी उक्त

कवित्त

प्रवीणे! मी तुझे तोंड, पाहुन सांगती आता,
कुठे गेली फार बरी, कान्ति तुझी कायाची?
चागली मुलील आतां, काय असा रोग झाला,
आहे गति ही विचित्र, ईश्वराची मायाची!
ये उनधा वैधाला व, पाहुनया नाडी तुझी,
तो तुला देइल फार बरी गोळी खायाची।
त्या पासून तुझा रोग, जाउन होइल सुख,
सांगीतली तुला गोष्ठ, ही मी बरी न्यायाची ॥१६॥

[हे प्रवीण! मै तेरा मुह देखकर कहती हूँ की तेरी काया की वह अत्यधिक काति कहा विलीन हो गयी? हा दैव, ऐसी सुन्दर कुमारी को ऐसा रोग क्योकर हो गया? ईश्वर की माया ही विचित्र है! वैद्य को आने दे और नाडी देखने दे, वह तुझे देखकर खाने की गोलिया देगा जिससे तेरा रोग दूर हो जायगा और तू सुखी होगी। मैने तुझे यह सच्ची बात कही है।]

यावनी सखी उक्त

कवित्त

नूरे आफताब महताब हैं चेहरा तेरा, सितारासी चश्म बुलबुल सी जुबान है।
हुआ है जिगर तेरा, दरद में गिरफ्तार, सबब सुनाओ रास्ता जानू मेरी जान है ।।
खाविंदे खलक रखे, तैसे रहो खुशहाल, जिसकी औलाद आनमन्द वे जिहान है।
फनाकर फिकर जिकर क्या प्रवीण भणे, खलक में खाबा तेरा खुब खानदान है ।।१९।।

गिर्वाणासख्युक्त

कवित्त

वचन वदामि ते हिताय त्वत्सुखाय चाहं,
भूत्वा सावधाना तत्तु शृणु भाग्यशालिके;
केय कृता भीता भूत्वा त्वया त्यंता चाकन्वता,
मह्यं ब्रूहि कारण तन्मुख मृणालिके;
त्वयासि विद्यावती प्रभावती क्षमावतीच,
किं वदामि तुभ्यहि सद्गुणा मणिमालिके;
धैर्यं धृत्वा भूत्वा स्थिराकष्टंतु विनिष्टंक कुरु ।
बुद्धिमती भवत्वं प्रवीणे, भूतनायिके ।।२०।।

विविध भाषाओ और भाषाशैलियो से रचित इस ग्रथ में सर्वत्र अलकार योजना और छद योजना का चमत्कार दृष्टिगोचर होता है। कैसा भी प्रसग क्यो न हो, कवि अपनी छद और अलंकार योजना के चमत्कार को दिखाने के लिए सदैव तत्पर रहता है। छद योजना के प्रति उसे अत्यधिक मोह है। वह जिस तरह प्रसगानुकूल भाषा-शैली को बदलता चलता है वैसे ही वह छदो का भी चुनाव करता है। शब्दालकारो की छटा ग्रथ मे सर्वत्र देखने को मिलती है। ऋतु-वर्णन हो चाहे प्रकृति वर्णन मिलन की वेला हो चाहे वियोग की घडियाँ शब्दालकारो की सजावट और छदो की छटा सर्वत्र विद्यमान है।

बसन्त वर्णन

कवित्त

बकुल बसन्त बेल, बारब बदाम बर, बोलत बिहंग बृन्द बगन बगन बन।
माधवी मधूक मल्ली, मञ्जर महोर मडि, मधु मकरंद मोद, मगन गगन मन ।।
प्रमदा परम प्यारी, परस प्रकाश प्रेम, पलटे परम पन्थी, पगन पगन पन।
दम्पति विछोही दिल, दोरतन दुरे देह, दिन छिनदान दोऊ दृगन दृगन दन ।।

—लहर १९, छन्द ७

सवैया

नवसात किये नवसात लिये, नवसात पिये नवसात पिवाई।
नवसात रची नवसात बिधे, नवसात मगे प्रति सागर आई॥
नवरात कला नवसातन की, नवसातन में अंचला मुख छाई।
नवसात रह्यौ नवसातन में, नवसात छुटी नवसात बताई॥
—लहर ४३, छन्द ९

अब एक लाटानुप्रास का चमत्कार देखिए —

[सोलह शृंगार करके, सोलह सखियों को साथ लेकर, मदिरा पीकर सोलह सखियों को पिलाकर षोडपोपचार युक्त शिवपूजा के साधन रचकर षोडष विधि से शिव पूजा कर के सोलह मार्गों को पारकर सागर से मिलने आई। सोलह वर्ष की बालाओ की सोलहो कलाएँ प्रकाशित हैं। सोलह सखियो के मध्य मे घूघट काढे षोडषी चल रही है। सोलह मार्गों में होते शोर को सुनकर सोलह सखियाँ मार्ग बताकर सोलह मार्गों से चली गयी।]

विरह वर्णन के जैसे गभीर वातावरण मे भी कवि शब्दालकारो का मोह नही छोड़ पाता। सागर की एक उक्ति देखिए —

फरर फरर पौन, थरर थरर कुंज, घरर घरर घोर झरर झरर बद्दर।
कहक कहक केकी, लहक लहक लता, चहक चहक झिलि, डहक डहक दद्दर॥
थरत करत बीज, फरत फरत कटि, सरित भरित पूर, गिरित गिर चद्दर।
गहें गहें पान बीन, चहें चहें गांन लीन, अहे अहे रे प्रवीन, लहरि लह कद्दर॥
—लहर ४३, छन्द २४

इन उद्धरणो से यह स्पष्ट हो जाता है कि कवि का शब्दालकारों के प्रति अत्यधिक मोह रहा है। ऋतुवर्णन, प्रकृतिबर्णन अथवा वियोग वर्णन में भी कवि अपनी इस प्रवृत्ति से मुक्त नही हो पाया है। यही कारण है कि कथा के कितने ही रमणीय और मार्मिक स्थल जितने उभरने चाहिए थे, नही उभर पाये है। कवि का वाक्चातुर्य्य और अलकार प्रदर्शन निस्सदेह सराहनीय है। इसमे शका नही कि इस समस्त ग्रथ पर किसी एक सिद्धहस्त कवि का हाथ फिरा है। नाना छदो, विविध अलकारो और गूढ उक्तियो को देखकर सभी का जी इनकी कारीगरी को सराहने को चाहेगा। पर कारीगरी कारीगरी है, कला नही है।

*प्रवीण सागर का कलापक्ष इतना प्रबल है कि उसके सामने भावपक्ष उभर नही पाया है। कवि का ध्यान सदैव अपने काव्य कौशल का प्रदर्शन करने में लगा रहा है। अगर उसका ध्यान कभी इस ओर से हट कर दूसरी ओर गया भी है तो वह विभिन्न शास्त्रों और उनके अंग उपागो का परिचय देने में अटक गया है।

प्रवीण सागर ग्रंथ में अनेक चित्र काव्य भी हैं। इन काव्यो की रचना निस्संदेह बड़ी श्रम साध्य रही होगी। काव्य रचना के अतिरिक्त इन्हें कुशल चित्रकारों ने चित्रो में सजाया भी

है। आज चाहे इस प्रकार के काव्यो का कोई मूल्य न हों पर किसी समय इस प्रकार की रचनाओ की बड़ी पूछ थी। कोई भी कवि अपने समय के प्रभाव से अछूता नही रह सकता। छद, अलकार, नायिकाभेद, चित्रकाव्यादि रीति कालीन काव्य चातुर्य के मुख्य विषय रहे हैं। अपने समय की माग के अनुरूप प्रवीणसागर में भी इन सभी चीजों का समावेश किया गया है। 'प्रवीण सागर' में लगभग १०० चित्रकाव्य हैं, जिनमें से गोमूत्र गति, अबूब गति गज प्रबध, नाग प्रबध मयूर प्रबध कटार प्रबंध, त्रिशूल प्रबध, पद्म प्रबंध, चतुष्कोण प्रबध, अष्टकोण प्रबध, चक्रप्रबध, स्वस्तिक प्रबंध, चौकी प्रबध और चौसर प्रबध आदि विशेष उल्लेखनीय हैं।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है इस महाकाव्य का कथानक सागर और प्रवीण के प्रेम-प्रसग पर आधारित है। प्रेमनिरूपण ही ग्रथ का मुख्य विषय है। ग्रथ की कथावस्तु को देखकर बहुत सो को इसमें सूफी प्रेमाख्यानो की सी झलक भी दिखाई देगी। पर वस्तुत ऐसी कोई बात इस ग्रथ में नही है। भारतीय साहित्य में प्रेम कथाओ की प्राचीन काल से ही एक परपरा रही है और यह भी उसी परपरा की एक कडी है। लेखको ने अनेक अमर प्रेमी प्रेमिकाओ के प्रेम प्रसंगो से प्रेरणा लेकर प्रेम निरूपण के लिए ही इस ग्रथ की रचना की थी —

आशिक माशुक के अमित, किस्सा लखि सुखदाय।
एक ग्रन्थ अस रचन की, चाह भई मन मांय॥
सात मित्र मिलिकें तबे, धारी हृदय हुलास।
प्रेम प्रसारन के लिए, कीने ग्रन्थ प्रकास॥
—लहर ८४, छन्द २९–३०*

और इस प्रेम में उन्होंने सूफी वाद के अनुसार किसी निर्गुण ब्रह्म की कल्पना न करके स्पष्टतया प्रेम के आराध्य राधाकृष्ण की ही झलक देखी थी—

सागर सो श्री कृष्ण हैं, राधा सोय प्रबीन।
चातुर चित विनोद को, ग्रन्थ अनूठा कीन॥
—लहर ८४, छन्द ३४*

तात्पर्य यह है कि यह ग्रंथ विशुद्ध भारतीय प्रेमनिरूपण का ग्रथ है, सूफी विचार धारा का नही।

ग्रथ के रचयिताओ ने प्रेम को विभिन्न दशाओ का विस्तार से उल्लेख किया है। प्रेम को उन्होंने एक दिव्य शक्ति और एक ईश्वरीय देन के रूप मे देखा है और उसकी महिमा का स्थान स्थान पर विस्तार से उल्लेख किया है—

भेद कुरान पुरान न भाखित, बेद किलेब अवस्त बृथा।
प्रोक्त लहे सुग्रहे मन के मन, मूढ अकक्षत गूढ़ गथा॥

---

* गोविन्द गिल्ला भाई के 'प्रवीण सागर' से।

जानन हार प्रमान न जानत, जानत जाय बितीत जथा।
मन्त्र न जन्त्र न तन्त्र न मण्डित, सागर प्रेम की न्यारी कथा॥
—लहर ४६, छन्द १४

प्रेम के महात्म्य वर्णन के अतिरिक्त कवियो की लेखनी से प्रेम की विभिन्न दशाओं के भी सुन्दर और सजीव चित्र उतरे है। ग्रथ में आदि से अत तक वियोग ही वियोग है। इस वियोग के बीच मे जो सयोग के क्षण आये है वे उत्तप्त मरुस्थल में नयनाभिराम शीतल सरोवर के समान सुखद और शातिदायक है। वैसे सारा ग्रथ वियोग की विपदाओ से भरा पडा है। सच पूछा जाय तो प्रेम का प्रधान पक्ष वियोग ही है। उसी मे प्रेम पात्र की आत्मा सोने की तरह तपकर खरी निकलती है। इस ग्रथ मे नायक और नायिका ने आजीवन विरह सहा है। इस विरह की वास्तविक अभिव्यक्ति उन्होने अपने प्रेम पत्रो मे की है। नि.सदेह प्रवीण सागर के ये पत्र साहित्य की उच्चकोटि की सपदा है। ऐसा प्रतीत होता है जैसे नायक नायिका ने इन्हें अपने आसुओ से लिखा हो। इन पत्रो मे उनके मनोभावो की वास्तविक अभिव्यक्ति हुई है। सागर के एक पत्र मे से यहा कुछेक छद उद्धृत किये जाते हैं—

"सूर बिना चक, बाग बिना पिक, बार बिना इक है मख जैसे।
हंस बिना सर, पख बिना पर, पत्र बिना तरु राजत तैसे॥
मोर बिना घन, भोर बिना बन, बुन्द बिना तन चातक वैसे।
प्रेम बिना मित बाम बिना पत, सागर जीवत है मृग जैसे॥"
—लहर ३६, छन्द ९

"मोर की ध्यान लगी घन घोर से, ढोर से ध्यान लगी नट की।
दीपक ध्यान पतंग लगी, पनिहारि की ध्यान लगी घट की॥
चन्द की ध्यान चकोर लगी, चकवान की ध्यान दिनेश टकी।
मीन मनो जल ध्यान सुसागर, पन्थ प्रवीन रहें अटकी॥"
—लहर ३६, छन्द २२

इन छदो में सागर के मन की व्यथा व्यक्त हुई है। प्रेमिका के बिना प्रेमी की जो हालत होती है उसी का भाँति-भाँति के उदाहरण देकर यहा दिग्दर्शन कराया गया है अब प्रवीण की विरह विह्वलता देखिए —

"डोलबो बावरो ह्वैके भलो, कि भलो है बिभूतन को धरबो।
ईश को शीष अरोप भलो, कि भलो जय भैरव को करबो॥
काशि में जाइ कट्ट्यो सो भलो, कि भलो है हिमाचल में गरबो।
सागर मित्त भलो सु बताइये, ज्योंहि कहो त्यौं हमें करबो॥
—लहर ७१, छन्द २६

"अँसुवन के नीर हुतें मंजत शरीर नित्य, विरह की भूमी उरताप की विसेखले।
नैनके कटोर करि मांगत दरस भिच्छा, दरद की सेली कण्ठबीच अवरेखले॥
खान पान गान तान सिगरे तजे हैं सुख, प्रान जान होयगो निदान आ परखले।
सागर से कहो जाय इक दिनां इते आय, प्रेम की फकीरी की तमासगीरी देखले॥

—लहर ७१, छन्द २५

प्रवीण सागर ऐसी अनेक सुन्दर उक्तियो से भरा पडा है। कितने ही दोहे ऐसे हैं जिनमे थोडे मे बहुत अधिक कह दिया गया है। कवि की वाणी जहा कही शब्दाडंबर की झझट को झटक कर आगे बढी है वही उसमे वास्तविक काव्य-सौन्दर्य झलकने लगा है। कुछ दोहे देखिए—

लागी सुरत सनेह, मानहु ज्यों दुरबीन दृग।
दरसत निकट न देह, दूर बसत मिता लखे॥५८–२०॥

बेदरदी अरदी सभर, ताकों लगे न तीर।
दरदी घर पर हूं नहीं, कैसे बचे शरीर॥६०–१४॥

दारा और सिकन्दरहिं, फूलमाना महमद।
बहरा मरू मजनू कियो, प्रेम सु हद बेहद॥७०–१७॥

सूके ये वर्षा कहा, क्या गत जोबन नारि।
मृतक हुएँ क्या औषधो, सन्यासी घन मारि॥८१–६॥

कामनी लोचन, कवि वचन, मन बेधत दो ठोर।
बेधू को मन बेधबो, वे कामिनि कवि और॥८४–२८॥

परपति अरु परनारि प्रति, जो सजही अस स्नेह।
सो पापी नरकहि परे, तामहि नहिं सन्देह॥८४–२९॥

प्रवीण सागर पर इस प्रकार एक सर्वभक्षी निगाह डाल चुकने पर अब हम इसके संबंध में कुछ निर्णय कर सकते है—

यह ग्रथ एक अहिन्दी भाषी कवि द्वारा हिन्दी मे लिखा गया वृहद्काय महाकाव्य है। ऐसा अन्य कोई महाकाव्य किसी अहिन्दी भाषी ने हिन्दी में लिखकर हिन्दी को गौरवान्वित किया हो यह अभी तक देखने सुनने में नही आया।

यह ग्रथ बहुत दिनो तक उपेक्षित रहा है। इसकी उपेक्षा का मूल कारण हमारे देश की अन्य भाषाओ के अचल में छिपी साहित्य सपदा के प्रति हमारी उपेक्षा ही है। हिन्दी की जो शोध-खोज हुई है वह अभी तक केवल हिन्दी भाषी प्रातों तक ही सीमित है। हिन्दी भाषी प्रात के प्रांतर पर बोली जाने वाली गुजराती मराठी पजाबी, बगला इत्यादि भाषाओ में भी यदि खोज की जाय तो ऐसे अनेक ग्रथ प्रकाश मे आयेंगे जिन्हें देखकर हमे स्तब्ध रह जाना होगा। गुजराती के अंचल मे तो हिन्दी के अनेक ग्रथ इसी प्रकार उपेक्षित पडे हैं। इन ग्रंथों की स्थिति सचमुच दयनीय है। हिन्दी-ग्रथ होने के कारण गुजरातियो ने इन्हें हिन्दी का समझकर छोड

दिया है और हिन्दी भाषियो को उनका पता तक नही है। पता होने पर भी भाषा और लिपि का भेद ऐसा पड़ा हुआ है कि इस ओर डुबकी लगाकर कोई एकाएक इन रत्नों को हस्तगत नही कर सकता।

इस ग्रंथ के साथ कितनी ही दुर्भाग्यपूर्ण बाते जुडी हुई हैं। एक तो यह कि ये चिर वियोगी दो प्रेमियो की सच्ची कहानी है। दूसरी यह कि इसकी मूल प्रतियो को राजकोट और लीबडी के राजघरानो ने लोक लाज के भय से नष्ट करवा दिया। जैसे तैसे इस ग्रथ का सग्रह सपादन करके जब (पता नही कब)? ब्रजभाषा के अधिकारी समझे जाने वाले तत्कालीन गोकुल वृंदावन के गोस्वामी जी के पास अभिप्राय के लिए ग्रथ की एक प्रति भेजी गयी। तो इन्होंने सराहना करते हुए इस टिप्पणी के साथ इस ग्रथ को लौटाया—

"ग्रथ का सकलन और उसकी काव्य रचना अद्वितीय तथा अत्यन्त रसिक है फिर भी इस ग्रथ की भाषा को ब्रजभाषा नही कहा जा सकता क्योकि इसमे कच्छी और गुजराती भाषा का छूट से उपयोग हुआ है जिसका अर्थ कोई भी ब्रजभाषा का विद्वान् सस्कृत या ब्रजभाषा के कोश के आधार पर नही कर सकता। अत हम इस ग्रथ को यह प्रमाण पत्र नही दे सकते कि यह ग्रंथ ब्रजभाषा का है[१]।"

इससे अधिक दुर्भाग्य इस ग्रथ का और क्या होता। गोस्वामी जी के हाथो जैसे इसका अतिम संस्कार हो गया। इस घटना के पश्चात् कोई गुजराती इस ग्रथ को हिन्दी के चरणो मे रखने की हिम्मत करता भी तो कैसे?

अब यह प्रश्न अवश्य विचारणीय है कि यह ग्रथ हिन्दी का है अथवा नही और इसका अर्थ सस्कृत और ब्रजभाषा के कोष के आधार पर हो सकता है अथवा नही?

---

१ देखो भूमिका : प्रवीण सागर; गुजराती प्रेस।

श्री केशवचन्द्र सिनहा एम.ए.

हिन्दी उपन्यास पर बंगला उपन्यास के प्रभाव की संभावनाएँ

यह स्वाभाविक ही है कि देश की सामान्य परिस्थितियो का चित्रण समान रूप से बगला तथा हिन्दी उपन्यासकारो ने किया हो, किन्तु सामयिक जीवन की एक-सी समस्याओ तथा राष्ट्र-व्यापी सामाजिक, राजनीतिक एव सास्कृतिक विचारो की परम्परा एक दूसरे को प्रभावित किये बिना नही रह सकती।

प्रभाव तो वायुमंडल के भार-सा हर क्षण हम पर छाया हुआ है जिसका अनुभव हम कदाचित् ही कभी कर सकते हो। अरस्तू, मार्क्स, बुद्ध, गाधी तथा फ्रायड का प्रभाव आज के युग मे प्रत्येक व्यक्ति पर किसी न किसी अश में अवश्य है और वास्तव में यह एक अत्यन्त गूढ़ विषय है कि उस प्रभाव को लेखको के जीवनादर्शों, आस्थाओ तथा रचनाओ के माध्यम से ढूढ़ निकाला जाय। सच तो यह है कि एक लेखक व्यक्ति के रूप मे एक महान् समाज को साथ ही अनेक विचारधाराओ को लिये फिरता है, अस्तु किसी स्थान पर किन्ही दो लेखको की रचनाओ मे सादृश्य देखकर यह कह पाना कि अमुक व्यक्ति अमुक व्यक्ति से प्रभावित हुआ है, व्यापक अध्ययन के साथ ही एक गभीर अन्तर्दृष्टि की अपेक्षा रखता है। दोनो लेखको के पूर्ववर्ती तथा उत्तरवर्ती सम्बन्ध को देखकर, देश की तत्कालीन समाज-मति पर दृष्टि स्थित करते हुए तथा प्रभाव की समस्त प्रत्यक्ष एव अप्रत्यक्ष सभावनाओ पर विचार करते हुए ही, यथाशक्ति तटस्थ रहने के प्रयास मे हम रोचक तथा सारपूर्ण निष्कर्षों पर पहुँच सकेगे।

दोनो साहित्यो के भली भाँति अध्ययन का विनम्र दावा रखते हुए भी लेखक प्रभाव जैसी बात को जब अपने (Intuition) वाले ज्ञान के आधार पर प्रस्तुत करता है और किसी आलोचक को यह बात न जचे अथवा यदि वह उस युक्ति को मन में स्वीकार करता हुआ भी वाह्यत अस्वीकार कर दे तो लेखक के पास ऐसा कोई बाध्य करने वाला सामर्थ्य नही है कि वह विरोधी पक्ष को अपने तर्क के द्वारा पक्ष मे ला सके।

विद्वज्जनो के लिये विषय की स्पष्टता तथा एक ही परिस्थिति में एक ही प्रकार की व्यजना तथा एक ही प्रकार के आन्तरिक उद्गारो, एक ही प्रकार के भावो, एक ही प्रकार के

विभावो, अनुभावो तथा सचारी भावों के चित्रण में संभावना शक्ति के आधार पर, जिसमें अप्रत्यक्ष प्रमाण भी सम्मिलित होगे एक रचना पर दूसरी रचना के प्रभाव का सकेत मिल सकेगा।

सूक्ष्म अध्ययन के आधार पर दो विभिन्न साहित्यो की रचनाओ के उद्धरण देकर कदाचित् उनमें प्रभाव की मूक सकेतावली स्पष्ट की भी जा सके, किन्तु एक लेखक अथवा उपन्यासकार पर अनेक भाषाओ के लेखको के पडने वाले प्रभावो मे से प्रत्येक की जाँच कर पाना सीमित समय की शक्ति के बाहर की बात है, फिर किसी लेखक के पूर्ववर्त्ती अनेक रचनाकारो द्वारा व्यक्त किये गये विचारो मे से कौन-सा विचार सबल बनकर कालान्तर मे उत्तरवर्ती अन्य क्षेत्र वाले लेखक पर मूर्त्त अथवा अमूर्त्त रूप मे छा जायेगा, यह कहना यदि असभव नही तो असभव प्राय अवश्य है।

प्रभाव की बात खोज निकालने मे एक कठिनाई और भी है——सम्पूर्ण साहित्य एक अखड शाश्वत प्रेरणा की व्यक्त चेष्टा है, अत साहित्य के विभिन्न अगो पर परस्पर व्यवहार विनिमय का आरोप एक स्वभावगत अधिकार है और किसी लेखक के कवि, नाटककार, आलोचक का व्यक्तित्व उसके उपन्यासकार के व्यक्तित्व से उसी प्रकार अलग नही किया जा सकता जिस प्रकार से सूत से रुई, मोती से उसकी चमक, जल से उसकी तरलता, शब्द से उसका अर्थ और समानता से उसका प्रभाव भी।

इस स्थिति मे यह आवश्यक नही कि किसी उपन्यास पर केवल किसी अन्य उपन्यास का ही प्रभाव पडा हो, मेरा अर्थ है कि यह बहुत कुछ सभव है कि किसी उपन्यास पर किसी कविता का प्रभाव पडा हो और उससे भी अधिक संभव है कि किसी साहित्य की अनजानी लघु कथा ने अन्य साहित्य के किसी प्रमुख कलाकार के हृदय मे बेचैनी बनकर बृहद् उपन्यास की रचना का कारण बनेगा। उदाहरण के लिये रवीन्द्र के काबुलीवाला कहानी के आधार पर——कम से कम नाम साम्य मे ही सही——मिठाईवाला, खिलौनावाला जैसी अनेक कहानियाँ लिखी गयी, किन्तु उनमे से कुछ उसके कथानक मात्र से प्रभावित थी, कुछ उसके चरित्रगत विशेषताओ से और कुछ उसकी मूक सवेदना शक्ति के सगठन निर्वाह की कुशलता से।

इस प्रकार हम देखते है कि प्रभाव एक बहुत व्यापक परिधि की शक्ति है, जो अज्ञात लोक मे बैठी हमारी मानसिक तटस्थता तथा प्रभाव से बचे रहने वाली सत्यनिष्ठा वृत्ति पर भी अपना प्रभाव डालकर, पक्ष तथा विपक्ष वाले दोनो ही प्रकार के आलोचको की आलोचना शक्ति को कुठित किया करती है।

कला की भाँति प्रभाव को भी हम मुख्य भागो मे बाँटकर पूरी बात नही कह सकते। उदाहरण के लिये उपन्यास अथवा कहानी कला पर विचार करते हुए जब हम पात्र, कथोपकथन, चरित्र चित्रण तथा उद्देश्य इत्यादि पर विचार करते हुए उसका विश्लेषण करते है तब हम उस रचना की सम्पूर्ण कला का दिग्दर्शन नही करा पाते। उसी प्रकार प्रभाव में भी एक ऐसा प्रभाव है जिसे हम विचारगत जीवनदर्शन, समस्या तथा निदान, राष्ट्रीय, सामाजिक तथा व्यक्तिगत, विद्रोह, समर्पण, पलायन तथा समन्वय; वस्तुगत कथानक उसके ऐतिहासिक, राजनीतिक तथा धार्मिक उद्गम, शिल्पगत भाषा शैली, संगठन, निर्वाह तथा कल्पनाविधान

के प्रत्यक्ष एवं स्वप्न के प्रतीक और स्मृति तथा प्रकृति चित्रण के माध्यम की सूचकता इत्यादि स्थूल वर्गों के अतिरिक्त भी कुछ शेष रहता है, जो प्रभाव है।

अस्तु, प्रभावशास्त्र की अपनी सीमा की विवशता में तथा अन्य माध्यम के अभाव में प्रभाव के स्वभाव को ग्रहण करने के लिये हम उक्त कथित भाव को ही स्वीकार करेंगे।

व्यावहारिक प्रभावशास्त्र के प्रयोगात्मक रूप मे किसी उपन्यास के तत्वो की परीक्षा मे सहयोग देने वाले उपादनों पर हम इस प्रकार से विचार कर सकते हैं।

समस्या

किसी भी उपन्यास अथवा रचना के कथावस्तु मे लेखक की ओर से जिस समस्या पर प्रकाश डाला जाता है, विषय गरिमा मे किसी शाश्वत प्रश्न को उठाते हुए भी प्रभावित रचनाकार अपने पूर्ववर्ती महान् लेखक द्वारा विवेचित प्रश्न की सश्लिष्ट सहति मे जाने अथवा अनजाने उन तर्कों, जीवन दर्शन की मूर्त्तमान विकृतियो को भी अपनी कृति मे स्थान दे बैठता है। आलोचक के लिये पूर्ववर्ती लेखक तथा उत्तरवर्ती लेखक के जीवनादर्शों से भली प्रकार परिचय अपेक्षित होता हैं। इस प्रश्न को अधिक स्पष्ट करने के लिये हम उसे निम्नलिखित अगो में विभाजित कर सकते है—

(१) विराट सृष्टि की गतिशीलता के प्रति लेखक का क्या दृष्टिकोण है? क्या कर्मफल की आस्था मे वह आदर्शवादी है अथवा सस्कारगत भार से उसकी दृष्टि किसी सीमित अथवा सकुचित रूप-विधान पर केन्द्रित रहती है। इसी के आधार पर लेखक द्वारा नारी-पुरुष चरित्रो का निर्माण और प्रभावशास्त्र की दृष्टि से अधिक महत्त्व रखने वाला उनके जीवन का विकास है। यहाँ यह बात और भी महत्त्व की है कि उस लेखक के जन्मजात सस्कारो पर तो उसके परिवार, समाज, शिक्षा दीक्षा इत्यादि का प्रभाव रहता ही है, जो उसकी सभी रचनाओ मे समानरूप से पाया जाता है, किन्तु किसी महान् कृति से अनुकरण द्वारा लिया गया भाव केवल उसी कृति मे ही दिखायी देगा, जिसकी रचना इसी उद्देश्य से की गयी हो।

(२) दूसरी मुख्य बात नारी तथा पुरुष चरित्रो के निर्माण में लेखक की धरती की कोमलता, कठोरता, समता-विषमता, ऋजुता, विषमता का कम हाथ नही होता, यदि एक धरती का पात्र दूसरी धरती की विशेषताओ से समन्वित व्यवहार करता हुआ परिलक्षित हो, तब प्रभाव-शास्त्री को इस विषय में अधिक सतर्क हो जाने की आवश्यकता है। वास्तव में किसी पात्र के व्यवहार मे प्रदेश-विशेष का खान-पान, रीति-रिवाज, व्यवहार और जीवन-यापन की विधि तथा सामाजिक स्थानीय रगो की आभा ही उसे एक विशिष्ट रूप देकर इतर प्रदेशीय पात्र से एक भिन्न आकार देकर वैचित्र्य प्रदान करती है।

(३) समस्या के अंतर्गत तीसरी दृष्टव्य बात प्रेम-निरूपण की है। प्रत्येक कलाकार की कृतियों में प्रेम के आदर्श का एक विशेष स्वरूप ही पाया जाता है; इस प्रकार किसी उत्तरकालीन रचना में इस माध्यम से भी प्रभाव पर पर्याप्त प्रकाश ढूढ निकाला जा सकता है।

उद्देश्य

किसी एक रचना मे सामयिक माग, प्रवृत्ति तथा निष्ठा के कारण एक विशेष प्रकार की उद्देश्य-दिशा पायी जाती है। तुलसी ने जो राम-चरित-मानस की रचना की वह इसी ओर सकेत करती है, किन्तु भूषण ने श्रृगार के शरीर में जो वीर रस की आत्मा प्रदान की, उसके पीछे किसी गभीर प्रभाव का प्रभाव अवश्य सोचना पडेगा। इसी प्रकार काल विशेष मे अपनी जाति के आदर्शवादी अथवा यथार्थवादी सीमा से बाहर निकल कर जब कोई लेखक किसी नवीनवाद की दुहाई देने लगे तब प्रभाव-शास्त्री का कर्त्तव्य है कि उस स्थिति की सामाजिक, राजनैतिक अथवा सास्कृतिक धरातल पर सूक्ष्म परीक्षा द्वारा यह जाँच कर सके कि यह वस्तु के विकास की सहज क्रिया है, अथवा विषय-विवेचन मे तत्कालीन प्रचलित शब्द एव वाक्य-प्रचलित शैली की अशक्तता की प्रक्रिया है अथवा किसी वाह्य प्रभाव की प्रतिक्रिया है।

शिल्प-विधि

प्रभाव शास्त्र के लिये शिल्पविधि का विश्लेषण जितन अधिक महत्त्व का है, उतना किसी अन्य उपकरण का नही। वैसे तो महान् लेखको की कृतियो मे अनेक प्रकार के शिल्प-विधान पाये जाते है, किन्तु प्रस्तुत निबन्ध मे बगला उपन्यासकारो की शैली पर विशेष दृष्टि रखते हुए हिन्दी रचनाओ पर उनके प्रभाव की ही चर्चा की जायेगी। बगला उपन्यासो में कोई विशेष लेखक भोजन-प्रिय होने के कारण पात्रो द्वारा कथा-विकास की सहायता के लिये जब स्थान-स्थान पर भोजन अथवा जलपान का आयोजन करता है, और उसी परिस्थिति मे अथवा आवश्यकता से अधिक इसी शिल्प के दर्शन जब हमे किसी उत्तरवर्ती हिन्दी लेखक विशेष में होने लगते हैं, तब हम उसे नि सदेह रूप मे प्रभाव के अन्तर्गत ही रखेंगे।

दूसरा बगला लेखक कम से कम पात्रो को लेकर उनके मानसिक चितन द्वारा घटनाओ के घात-प्रतिघात मे जब कथा का सारा ढाचा खडा कर देता है, और हिन्दी का कोई उत्तरवर्ती रचनाकार इस शिल्प का आश्रय ग्रहण करता हुआ अपने स्वभाव एव सस्कार की प्रतिकूलता ही सिद्ध करे, तब वह प्रभाव के अतिरिक्त कुछ नही।

और इसके अतिरिक्त यदि दोनो विवेच्य लेखको के पात्र विशेष ढग से अधकार पाकर रात्रि में, और विशेष रूप से सध्या की गोधूलि में स्थान-स्थान पर और भी अधिक चिंतनशील हो उठें, तब उन स्थलो द्वारा प्रभाव को हृदयगम करने में और भी अधिक सरलता होती है।

बगला साहित्य मे एक लेखक उपन्यास के प्रारम्भ मे ही प्रणय की पूर्वसूचना के रूप मे दो पात्रो की किशोरावस्था के चित्र देकर उनके कथोपकथनो अथवा कही-कही पर किशोर शिक्षक तथा किशोरी शिक्षार्थिनी को लेकर किये गये प्रारम्भ द्वारा कथानक का विकास करता है। यदि यही प्रवृत्ति सप्रमाण उत्तरवर्ती इतर साहित्यिक रचनाओ मे पायी जाय अथवा किसी पूर्ववर्ती रचनाकार से चेतन अथवा अचेतन में प्रभावित किसी तीर्थ अथवा मेले में खोये हुए

बालक, कन्या अथवा स्त्री की कथा ही पूर्ववर्ती रचना के समानान्तर आकर ग्रहण करती जाय, तब अधिक सभव है वह प्रभाव की मूक संकेतावली होगा, जो प्रभावशास्त्र की अपेक्षा रखती है।

शिल्पविधान की प्रभावशास्त्र के आधार पर परीक्षा करने में पूर्वापर रचनाओं में आये हुये नायक-नायिकाओं की आयु, अवस्था उनके शारीरिक गठन पर सूक्ष्म दृष्टि रखने की आवश्यकता पड़ती है।

इससे भी अधिक प्रकृति के सजीव चित्रों में आलम्बन-उद्दीपन की कथा से भी आगे वनस्पतिपूर्ण वातावरण का वैशिष्ट्य तथा चित्र खडो में आये हुए पशु-पक्षियो का वर्णन विशेष सहायक है।

फिर मानव जीवन के विभिन्न चित्रो मे बालक तथा उससे भी अधिक वृद्ध चरित्र इस दिशा मे और भी सकेत करते हैं। बगला साहित्य में इनके स्वतत्र अस्तित्व रखने वाले चित्र विरले नही है।

यही नही एक प्रदेश का रचनाकार अपनी रचना मे दूसरे प्रदेश के पात्रो को किस ढग मे रखना है, उनके वार्तालाप तथा व्यवहार मे किसी पूर्ववर्ती रचना के प्रभाव का ध्यान भी अपेक्षित है।

प्रभाव की जाँच मे बहिर्साक्ष्य मे भी कही अधिक सशक्त स्थान अन्तर्साक्ष्य का है। इसके लिये यह अत्यधिक आवश्यक है कि दोनो रचनाकारो के जीवन पर पर्याप्त खोज हो चुकी हो। भारतीय साहित्य और विशेषकर हिन्दी साहित्य मे इस दिशा में अत्यधिक अभाव है। अधिक उन्नतिशील पाश्चात्य देशो मे तो साहित्यकारो के परिचय में उनके जीवन को प्रभावित करने वाले पशु-पक्षियो, नदियो तथा विशेष स्थलो तक का उल्लेख कर दिया जाता है, व्यक्तियो की तो बात ही क्या ? उसकी गृहस्थ की साधारण बातो के अतिरिक्त उनके सभी अध्यापको से सम्बन्ध की बाते तक मिल जाती है। उदाहरण के लिये हम पाश्चात्य भाषाओ के विश्व-कोश देख सकते हैं।

इन सीमाओ के होते हुए भी हम किसी रचनाकार की कृति में आये हुए उद्धरणो अथवा पूर्ववर्ती महान् लेखको के नामो की Statistics के आधार पर उस पर प्रभाव डालने वाले लेखको की जाँच पर प्रभावशास्त्र को अधिकाधिक पूर्ण बना दे सकते हैं। उदाहरण स्वरूप जैनेन्द्र कृत 'परख' के प्रथम पृष्ठ की द्वितीय पक्ति मे ही टाल्सटाय, रस्किन, गाधी के नाम आकर इस विषय में प्रकाश डालते हैं।

भाषा

भाषा द्वारा प्रभाव की पहिचान साधारण तो नही, किंतु निश्चित अवश्य होती है। भाषा के सहज प्रवाह ध्वनि, अवरेव, गुण तथा शब्द शक्ति की सूक्ष्मता पर इस सीमित निबध पर विचार न करते हुए भी यह तो कहा ही जा सकता है कि एक ही मूल सस्कृत से प्रसूत हिन्दी तथा बगला भाषाओ के कारण यदि एक में दूसरे की अप्रचलित शब्दावली, लोकोक्तियाँ अथवा

मुहाविरो का शुद्ध अथवा अशुद्ध प्रयोग मिल जाय तो निःसन्देह रूप से उत्तरवर्ती रचना पर पू
वर्ती रचना का प्रभाव मानना ही पडेगा। इस स्थल पर अलकारो में आई हुयी उपमा, उत्प्रे
वक्रोक्ति, अतिशयोक्ति इस कार्य को प्राय और भी अधिक सरल बना देती है।

प्रभाव के विषय में अतिम महत्त्वपूर्ण बात यह है कि यह बहुत कुछ संभव है कि कि
लेखक अथवा उसकी रचना के विविध अगो पर किसी एक कृति अथवा उसके किसी अग वि
का प्रभाव न होकर बल्कि अनेक रचनाओ के विविध अगो का प्रभाव पडा हो। उदाहरण
लिये हम जैनेन्द्र की 'सुनीता' को ले सकते है जिसके कथानक, जीवनदर्शन, शैली, भाषा तथा ना
पात्रो पर बगला के अनेक उपन्यासकारो का प्रभाव स्पष्ट है।

वास्तव में प्रभाव एक अत्यधिक सूक्ष्म एव अत प्रवेशिनी प्रक्रिया है, जो देश, का
वातावरण, योग्यता, अयोग्यता पर विशेष ध्यान न देता हुआ उत्तरवर्ती उपज मे किसी न कि
रूप में अपनी छाया अवश्य ही छोड जाता है, वह यज्ञ किरणो से भी अधिक सबल है, अग्नि
भी कही अधिक सजग है और स्वय अपनी ही भाँति प्रभावशाली है। इसका ठीक-ठीक नि
कर पाने के लिये कुशल अध्यापक की अतर्भेदिनी दृष्टि अनिवार्य है।

अत मे प्रश्न यह उठता है कि यदि सभी प्रभाव है तो मौलिक क्या है? मौलिक व
है जो वही के बीज से वही की धरती मे वही के जल से सीचे हुए पौधे का फूल हो, और कलम
बाहर का न हो।

हिन्दी की उपन्यास परम्परा का प्राचीन औपन्यासिक परम्परा से कोई विशेष सम्ब
नही रहा है यह बात काव्य के सम्बन्ध मे भले ही सत्य न हो किंतु उपन्यास के सम्बन्ध में बिल्
ठीक है। जैसा कि एक आलोचक ने कहा है।

"संस्कृत के प्राचीनतम काव्य से लेकर अधुनातन हिन्दी काव्य की परम्परा अविच्छि
है, किन्तु हिन्दी का उपन्यास साहित्य का वह पौधा था, जिसे अगर पश्चिम से नही लिया गया
तो उसका बगला कलम तो लिया ही गया था, न कि सुबन्धु, दडी और बाण की लुप्त परम्प
पुनरुज्जीवित की गयी थी।"[1]

---

१ हिन्दी गद्य की प्रवृत्तियाँ. हिन्दी उपन्यास : नलिनविलोचन शर्मा।

श्री मदनमोहन नागर

नालन्दा पर्यटन

नालन्दा की गणना यद्यपि बौद्ध महातीर्थों में नही है तथापि बौद्धधर्म के प्रसिद्ध शिक्षा केन्द्र के रूप मे यह ईसा की लगभग ११ शती तक विश्व में समादृत रही। पर आज तो वहाँ केवल खण्डहरों के ही दर्शन होते है। फिर भी भारतीय संस्कृति के विद्यार्थी वहाँ के भग्नावशेषो से
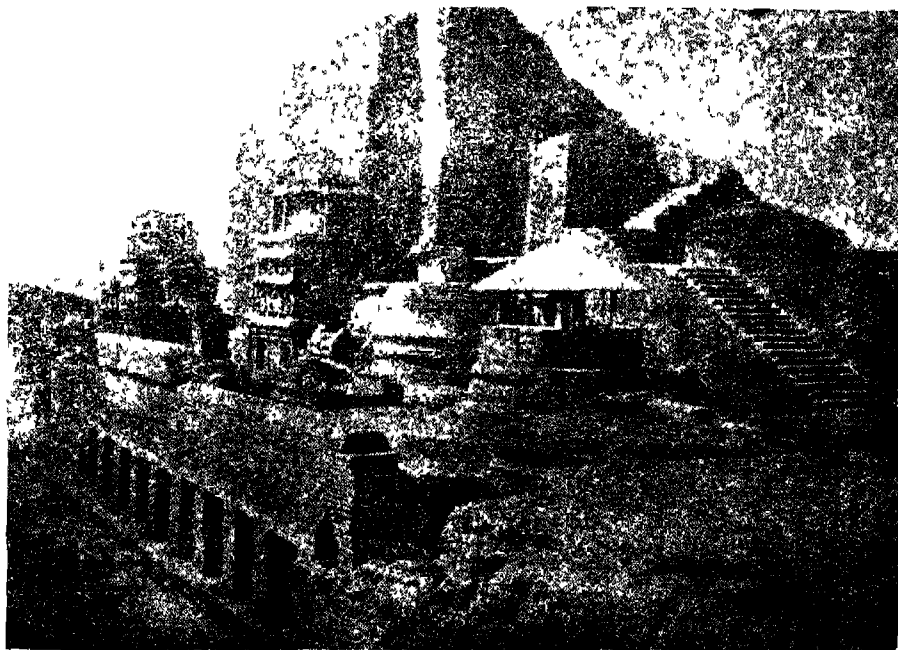
नालन्दा का भूमिशायी अतीत

अतीत का गौरव, विद्वानो की गोष्ठियो एव स्नातको की कहानियाँ मूक भाषा मे सुनने बरबस चले जाते है। नालन्दा पहुँचने के कई मार्ग हैं। सबसे सरल यात्रा रेलगाडी द्वारा है। यहाँ के

यात्री प्राय वख्तियारपुर-राजगीर लाइन पर स्थित बडगाव स्टेशन पर उतरते हैं और १½ मील की पैदल यात्रा करके नालन्दा पहुँचते है। कुछ यात्री पटना, गया अथवा वख्तियारपुर से मोटर द्वारा भी नालन्दा जाते हैं।

नालन्दा के नामकरण के विषय मे कई किम्बदन्तियाँ प्रचलित हैं तथा उनके विभिन्न रूप भी है। परन्तु नामो के अन्य रूप यथा नालन्दा, नलन्द अथवा नालेन्द्र अवश्य ही भ्रमात्मक हैं कारण नालन्दा नाम ही हमे प्राचीन ग्रन्थो में मिलता है। जैन और बौद्ध ग्रन्थो तथा यहाँ से प्राप्त ताम्र पत्रो मे 'नालन्दायाम्' शब्द का ही प्रयोग किया गया है। अत 'नालन्दा' नाम ही सर्वथा ठीक है। 'नालन्दा' के नामकरण के विषय में दो धारणाएँ मुख्य है। प्रथम का उल्लेख प्रसिद्ध चीनी यात्री ह्वेनसाग ने किया है और जो सम्भवत 'निदानकथा' की कथा पर आधारित है, तदनुसार एक बार भगवान् तथागत यहा अपने किसी पूर्व जन्म मे राजा हुए थे। उस समय जनता की पीडा से व्याकुल हो उन्हे दु ख से मुक्ति देने के निमित्त उन्होने अनन्त दान की व्यवस्था की थी। तभी से इस स्थल का नाम नालन्दा हुआ। दूसरी धारणा इसकी शब्द व्युत्पत्ति 'न अलम दा' अर्थात् 'जहाँ दान का अन्त नही होता' पर आधारित है। प्रस्तुत स्थल मे कमलो की बहुतायत है और यहाँ के सरोवर कमल-नाल से आज भी भरे मिलते है। अत निरन्तर कमल अथवा नाल-दायिनी होने के कारण यह स्थल नालन्दा कहलाया। नालन्दा का उल्लेख हमे अनेक प्राचीन ग्रन्थो मे मिलता है। भगवान् बुद्ध के दो प्रमुख उपदेशो ब्रह्मजालसूत्र तथा महापरिनिर्वाण सूत्र मे इसका विशद वर्णन दिया है। कहा जाता है कि बुद्ध के शिष्य सारिपुत्र का जन्म इसी के समीप हुआ था और भगवान् बुद्ध स्वय राजगृह आते-जाते समय यहा से होकर गये थे। इसी प्रकार जैन धर्म के प्रवर्त्तक निगथनाथ पुत्र का जन्म भी नालन्दा के आसपास के ही क्षेत्र मे हुआ था। इससे भगवान् बुद्ध तथा महावीर स्वामी के समय मे भी इस स्थल की महत्ता स्वय सिद्ध है। मौर्यवश के प्रसिद्ध शासक सम्राट् अशोक का भी सम्बन्ध इस स्थल से बताया जाता है और कहा जाता है कि उसी ने नालन्दा का मुख्य विहार बनवाया था तथा सारिपुत्र के स्तूप की पूजा की थी। प्रसिद्ध इतिहासकार तारानाथ ने भी इस स्थल का उल्लेख किया है। और पुष्यमित्रशुग से नालन्दा की एक स्त्री के भेंट की चर्चा की है। परन्तु वास्तव में नालन्दा की ख्याति यहाँ के विश्वविख्यात विश्वविद्यालय के कारण हुई। इस विश्वविद्यालय की स्थापना कब हुई थी यह नही कहा जा सकता, परन्तु तारानाथ के वर्णन के आधार पर इसकी स्थापना दूसरी शती ई० के पूर्व अवश्य ही हो चुकी थी। कारण महायान धर्म के सस्थापक नागार्जुन की शिक्षा इसी विश्वविद्यालय मे हुई थी और कालान्तर मे वे इसके कुलपति भी हुए। तबसे निरन्तर यह विश्वविद्यालय उन्नति करता गया और एक दिन तो इसकी छात्र सख्या १०,००० के ऊपर भी जा पहुँची। जहा विद्यार्थियो के रहने, खाने, पढने की नि शुल्क व्यवस्था थी यत व अपनी सारी शक्ति विद्याध्ययन मे ही लगावे। इतने बडे विश्वविद्यालय का नि शुल्क सचालन एक अद्वितीय घटना है। इससे तत्कालीन जनता एव राजवश की महती उदारता का स्पष्ट परिचय मिलता है।

नालन्दा का सम्बन्ध गुप्तवश के नरशो से सबसे अधिक रहा। इस स्थल से समुद्रगुप्त

के काल का एक ताम्रपत्र तथा नरसिंहगुप्त के समय की अनेक मृण् मुद्राएँ मिली है। नालन्दा के संरक्षकों में शकारादित्य का ह्वेनसाग ने विशेषरूप से उल्लेख किया है। शकारादित्य के पश्चात् गुप्तवंश के अन्य शासको यथा—बुद्धगुप्त, तथागतगुप्त, बालादित्य गुप्त, कुमारगुप्त, वज्र आदि ने भी इस विश्वविद्यालय को अत्यधिक सहायता पहुँचायी। एक बात और विशेष ध्यान देने योग्य है कि ५वी शती के प्रसिद्ध चीनी यात्री फाहियान ने नालन्दा का कोई उल्लेख नही किया है। इससे यह स्पष्ट होता है कि नालन्दा की ख्याति उसके बाद की है। सम्भवत तब तक नालन्दा का शिक्षालय भारत के अनेक साधारण शिक्षा संस्थाओं की ही भाति था। परन्तु ७वी शती के यात्री ह्वेनसाग ने इसकी विशद् चर्चा की है। इतना ही नही वह स्वय लगभग ७ वर्ष तक इस विश्वविद्यालय का छात्र रहा और तत्कालीन कुलपति शीलभद्र से बौद्धदर्शन की शिक्षा प्राप्त की थी। शीलभद्र की गणना उस समय भारत के सर्वश्रेष्ठ विद्वानो मे थी। बौद्धदर्शन के साथ-साथ उसने हेतु विद्या, शब्दविद्या, चिकित्साविद्या तथा वेदो तक का भी अध्ययन किया था। नालन्दा को विदेशी नरेशो का भी सरक्षण प्राप्त था। इसका उल्लेख हमे देवपाल—जिसका शासन काल ८१५ से ८५४ ई० तक था—के ताम्रलेख मे मिलता है। इस ताम्रपत्र मे सुमात्रा के राजा द्वारा यहा बनवाये गये विहार के सचालन के निमित्त देवपाल द्वारा ५ गावो के दान दिये जाने का उल्लेख है। गुप्त राजाओं के पश्चात् सम्राट् हर्ष ने भी इस विश्वविद्यालय को अत्यधिक सहायता पहुँचाई। ह्वेनसाग तथा इत्सिग दोनो चीनी यात्रियो ने इसका विशद् उल्लेख किया है। उनके अनुसार सम्राट् हर्ष ने १०० ग्राम नालन्दा विश्वविद्यालय को प्रदान किए थे। नालन्दा के सरक्षको के रूप मे तत्कालीन अन्य शासको मे यशोवर्मदेव तथा भास्कर वर्मा का भी उल्लेख किया जा सकता है। मौखरी एव वर्द्धन वश के अतिरिक्त पालवश के शासको ने भी नालन्दा को प्रत्येक प्रकार से सहायता दी। कन्नौज के प्रसिद्ध प्रतिहार शासक महेन्द्रपाल ने भी नालन्दा के विहारो के लिए प्रचुर दान दिया था। इस प्रकार ६ठी से ६वी शती तक नालन्दा का उत्कर्ष काल था। इतना ही नही, देवपाल के समय मे तो इसे अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त हुई थी और जावा तथा सुमात्रा के शासको ने भी इस ओर ध्यान देना आरम्भ कर दिया था। इस प्रकार नालन्दा की ख्याति मुसलमान आक्रमणकाल तक बनी रही। इसके पतन का मुख्य उत्तरदायित्व नृशस बख्तियार खिलजी को है, जिसने हजारो बौद्ध भिक्षुओ, एव विद्वानो आचार्यों को तलवार के घाट उतारा तथा नालन्दा स्थित विश्व के सर्वश्रेष्ठ पुस्तकालय को जलाकर नष्ट कर डाला। शिक्षा के क्षेत्र में इतनी महान् हानि विश्व में कभी भी नही हुई।

इस विश्वविद्यालय की विश्व ख्याति के कारण थे यहाँ के विद्वान-आचार्य जिनके चरण कमलो मे बैठकर अनेक देशो के विद्यार्थी दर्शन, व्याकरण, तर्कशास्त्र धर्मशास्त्र आदि का गहन अध्ययन करते थे। महायान धर्म के पूर्ण विकास एव विस्तार का श्रेय इसी शिक्षा-केन्द्र को था, जिसके कारण बौद्ध धर्म व्यापक धर्म बन सका। यहाँ के प्रमुख आचार्यों में महापडित नागार्जुन का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है जो इसके प्रथम कुलपति थे। उनके पश्चात् क्रमश माध्यमिका सिद्धान्त के प्रचारक लका निवासी आर्यदेव, योगाचार के प्रकाण्ड विद्वान् असंग एवं वसुबन्धु

ने यहाँ के कुलपति पद की शोभा बढाई। मध्यकालीन तर्कशास्त्र के जन्मदाता दिङ्नाग ने यहां कुलपति पद पर आसीन होकर नागार्जुन की ही भाति ख्याति प्राप्त की। उन्होने तत्कालीन प्रसिद्ध विद्वान् ब्राह्मण को शास्त्रार्थ मे हराकर 'तर्कपुगव' की उपाधि धारण की थी। दिङ्नाग के पश्चात् उस पद की शोभा आचार्य धर्मपाल एव तदनन्तर शीलभद्र ने बढाई। शीलभद्र के ही समय मे चीनी यात्री ह्वेनसाग ने भारत की यात्रा की थी। उस यात्री ने शीलभद्र की प्रशंसा एक महान् विद्वान् एव सन्त के रूप मे की है। शीलभद्र के पश्चात् आचार्य धर्मकीर्ति यहाँ के कुलपति हुए जो भारत के सर्वश्रेष्ठ तार्किक थे। उन्हे आचार्य कुमारिलभट्ट को शास्त्रार्थ मे पराजित करने का भी श्रेय प्राप्त है। शीलभद्र के पश्चात् दूसरे महान् कुलपति शान्तिरक्षित हुए। इन्हें बौद्ध धर्म की पुस्तको के अनुवाद के निमित्त तिब्बत् के महाराजा ने अपने देश मे आमन्त्रित किया था जहाँ ७६२ ई० मे उनकी मृत्यु हुई। आचार्य शातिरक्षित के पश्चात् दूसरे मुख्य कुलपति आचार्य पद्मसभव हुए, जिन्हे तिब्बत् मे लामा धर्म की स्थापना का श्रेय प्राप्त है। इस प्रकार नालन्दा के प्रमुख आचार्यों ने अपनी विद्वता एव रचनाओ के कारण नालन्दा को विश्व का सर्वश्रेष्ठ विश्वविद्यालय बना दिया था और तबसे आज तक वह ख्याति विश्व के किसी भी विश्वविद्यालय को प्राप्त नही हो सकी है।

इस विश्वविद्यालय की ख्याति का अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि इसकी ख्याति से आकर्षित होकर विदेशो से विशेषकर चीन देश से अनेक विद्वान् यहाँ विद्याध्ययन के निमित्त आते थे। फाहियान एव ह्वेनसाग के यहाँ रहकर अध्ययन करने का उल्लेख किया जा चुका है। ह्वेनसाग के पश्चात् ११ चीन एव कोरिया निवासी यहाँ विद्याध्ययन के निमित्त आये थे। अन्य प्रमुख यात्रियो मे ईत्सिंग का नाम विशेषरूप से उल्लेखनीय है, जिसने नालन्दा का विशद् वर्णन किया है।

परन्तु नालन्दा का यह उत्कर्ष विश्व के परिवर्तनशील नियम के अन्तर्गत चिरस्थायी न रह सका। उत्थान एव पतन एक दूसरे के अनुगामी है। अत ८वी-९वी शताब्दि से ही राजनीतिक उथल-पुथल के कारण इसकी ख्याति घटने लगी। बौद्धधर्म में आडम्बर बढे और हिन्दू धर्म ने आचार्य कुमारिभट्ट एव स्वामी शकराचार्य जैसे महान् विद्वान् उत्पन्न किये, जिन्होने प्राचीन वैदिक धर्म की पुन स्थापना की। परन्तु नालन्दा का सर्वनाश तो किया तुर्क आक्रमणकारियो ने। बख्तियार खिलजी की नृशंसता ने विश्व के सर्वश्रेष्ठ शिक्षा केन्द्र को खण्डहर बनाकर छोड दिया और आज वहाँ के ढूह अपने अतीत के गौरव, विद्वानो की गोष्ठियो, स्नातको की मण्डलियों एव मुसलमानो की नृशसता की कहानियो को वहाँ के यात्रियो को मूक स्वर मे सुनाते हैं। अत उन खण्डहरो का दर्शन सस्कृति के विद्यार्थियो के लिये अनिवार्य-सा है।

मुख्य स्थल के निरीक्षण के पूर्व नालन्दा के समीप ही यात्रियो को प्रथम बडगाव नामक एक छोटे ग्राम का दर्शन होता है। बडगाव, वट ग्राम का अपभ्रंश है और इसका यह नामकरण यही वट वृक्षों की अधिकता के कारण पडा। इस ग्राम मे सम्भवत महावीर स्वामी ने १४ वर्षा ऋतुएँ बिताई थी। विक्रम सम्वत् १७०० में लिखी गयी पडित विजयसागर की 'समेतशिखरतीर्थ-

माला' में यहाँ १६ जैनियों के मदिरो का उल्लेख किया गया है जिनमे जैन मूर्तियो की पूजा होती थी। बड़गाव हिन्दू तथा जैनियो दोनो का तीर्थ है। हिन्दू यहाँ स्थित सूरजकुण्ड में स्नान के निमित्त आते है, जिसका जल रोग से मुक्ति देने वाला माना जाता है। जैनी भगवान् महावीर के परम शिष्य इन्द्रभूति के जन्म स्थान होने के कारण इसे पवित्र मानते हैं। इसी ग्राम के दक्षिण-पश्चिम मे सारिचक नामक एक छोटी कुटी है। यहा के ढूह से अनेक पाषाण मूर्तिया मिली है। सम्भवत. यह भगवान् बुद्ध के प्रसिद्ध शिष्य सारिपुत्र का जन्म स्थान है। फाहियान एव ह्वेनसाग दोनो ने ही सारिपुत्र का जन्म नालन्दा के समीप ही बताया है।

बडगांव में बना एक आधुनिक मदिर भी दर्शनीय है जिसमें भगवान् बुद्ध की प्रतिमा स्थापित है। इसी प्रकार लगभग दो मील दूरी पर स्थित जगदीशपुर के मदिर में भी एक विशाल बुद्ध प्रतिमा स्थापित है, जिसके पृष्ठभाग पर एक विशाल प्रभामण्डल है। इस मूर्ति मे बुद्ध को बोधिवृक्ष के नीचे बैठे दिखाया गया है और मूर्ति की चरण चौकी पर बुद्ध के जीवन की अनेक घटनाएँ अकित है।

नालन्दा के प्रमुख क्षेत्र की खोदाई का कार्य पुरातत्त्व विभाग ने १६१५ ई० में किया था। फलस्वरूप यहाँ के महान् विश्वविद्यालय के अवशेष प्रकाश मे आये। यहाँ दर्शको को प्रथम दृष्टि मे ही उस उप-नगर की निर्माण-प्रणाली समझ मे आ जाती है। एक दिशा में चैत्यो तथा अन्य सार्वजनिक भवनो का निर्माण किया गया था और दूसरी ओर ठीक समानान्तर रूप में विहारो एव शिक्षा भवनो की रचना की गयी थी। इन भवनो मे से कई तो अनेक मंजिलो के थे, जिनकी नीवो पर नालन्दा के पतन के बाद भी भवनो का निर्माण किया गया था। परन्तु काल की गति ने उन्हे भी आज धराशायी बना डाला। नालन्दा की पवित्र भूमि के दर्शन के लिए यात्री सर्वप्रथम एक प्राचीन मार्ग से होकर सीधे जाकर खुली जगह मे आ जाते है। यहाँ से प्रमुख विहार के स्पष्ट दर्शन होते है। बाई ओर प्रथम तथा दायी दिशा मे चतुर्थ एव पचम विहार है। सीढी द्वारा प्रथम विहार के शिखर पर जाकर समस्त विश्वविद्यालय के क्षेत्र का मानचित्र मानसपटल पर अकित हो जाता है। यहा के अवशेषो के देखने से ही स्पष्ट हो जाता है कि यहाँ के भवनो एव मूर्तियों का निर्माण एक काल का न होकर भिन्न-भिन्न समय का है। मुख्य विहार के उत्तर-पूर्व मे काष्ठ के छाजन के नीचे अवलोकितेश्वर बोधिसत्व की एक सुन्दर विशाल प्रतिमा है। इसके समीप ही दक्षिण-पूर्व की ओर वाली प्रतिमा आचार्य नागार्जुन की बतायी जाती है, जिसकी स्थापना विश्वविद्यालय के प्रथम कुलपति की स्मृति मे की गयी थी। यहाँ अनेक लेखों के भी दर्शन होते हैं। प्रथम विहार निश्चय ही सर्वश्रेष्ठ है। इसका प्रवेश द्वार उत्तरी दीवाल मे है। विहार मे घुसते ही विहार प्रागण के चतुर्दिक स्थित कमरो के लिए बने खम्भो के निचले भाग मिलते है जो पत्थर के बने हैं। इस विहार को कभी भयकर अग्निकाड का सामना करना पडा होगा इसके स्पष्ट चिह्न यहाँ मिलते है। इस विहार के ६ सतह ज्ञात होते हैं जिनमे से एक सम्भवत' पाल राजा देवपाल के समय मे सुमात्रा के राजा द्वारा बनवाया गया था। यह विहार दो मंजिला रहा होगा, जिसके ऊपर की रचना बाद की प्रतीत होती है। विहार की दूसरी ओर एक चबूतरा

बना है, जिससे सहज ही यह अनुमान होता है कि आचार्यगण यहाँ के प्रागण में बैठे शिष्यों को उपदेश देते रहे होंगे। अगल-बगल के बने तहखाने विद्वानों के निवास-स्थल रहे होंगे। इसी विहार

से भगवान् बुद्ध के जीवन के आठ दृश्यों को चित्रित करने वाली पाषाण पटिया मिली थी। इस विहार की छत, भवन में प्रयुक्त ककड आदि तत्कालीन उच्च वास्तुकला का परिचय देते हैं। विहार संख्या १ की दाईं ओर विहार सख्या ४ है। इनमे सीढी के समीप दीवाल मे बना रोशनदान हमारा ध्यान सर्व प्रथम आकृष्ट करता है। क्योंकि सीढी तक प्रकाश पहुचाने की यह व्यवस्था

प्रायः प्राचीन भवनों में हमें नही मिलती। इसी विहार से नालन्दा में प्राप्त सबसे प्राचीन स्वर्ण मुद्रा सम्राट् कुमारगुप्त की प्राप्त हुई थी। ४ थे विहार के बगल में ५वां विहार है जो साधारण-

सा है। वहाँ मे होकर हम ६ठे विहार मे पहुच जाते है जिसमे ईटो से जडे दो प्रागण हैं। सीढ़ी की स्थिति से इस विहार का भी दो मजिला होना सिद्ध होता है। यहाँ की सबसे विचित्र बात है ऊपरी प्रागण मे दो भट्ठियो का होना। सम्भवत. यह भिक्षुओ के कपडे रंगने के लिए बनायी

गयी होगी। यहाँ से ७वें विहार मे होते हुए हम प्रस्तर निर्मित एक मंदिर में पहुँचते हैं जिस पर सख्या २ अकित है। यहाँ एक चबूतरे पर प्रस्तर में २११ उकेरे चित्र बने है जिनमें विभिन्न दृश्य एव देवी-देवता यथा गजलक्ष्मी कुबेर, मयूरासीन कार्तिकेय, बाजे बजाते किन्नर, मकर, आदि अकित किये गये हैं। ८वे विहार का उल्लेख अपने प्रभावशाली एवं विशाल निर्माण के लिए दर्शनीय है। ८वें विहार के पश्चात् ९वे विहार के प्रागण मे हमें कपडे रगने की ६ भट्ठियाँ मिलती है जहाँ जमीन के नीचे पूरी लम्बाई मे होकर एक नाली गई है। १०वे विहार अपने द्वार के मेह-राबो तथा मिट्टी के पलस्तर के कारण उल्लेखनीय एव दर्शनीय है। अब तक के ये सभी भवन काफी अच्छी अवस्था मे है परन्तु ११ वा विहार बहुत ही जीर्णावस्था मे है। यहाँ टूटे खम्भो के २५ अवशेष अब भी दिखाई देते हैं। खोदाई मे यहाँ से पलस्तर की मिट्टी से भरे कई घडे प्राप्त हुए थे। यहाँ से हम चैत्य सख्या १२ की ओर मुडते है जो सख्या ३ की चैत्य की उत्तर मे बना है। यहा भिन्न कालो मे दो बनी भिन्न सतहें मिलती है। इसकी दीवालो पर विभिन्न आकार की ताखे बनी है जिनमे किसी समय मूर्ति स्थापित थी। यहाँ उत्तर-पूर्व की ओर एक-एक चैत्य भी बने हैं जो १७० फुट लम्बे एव १६५ फुट चौडे हैं। १३वे चैत्य की दशा अत्यन्त जीर्ण थी अत इसकी कुछ मरम्मत पुरातत्त्व विभाग द्वारा की गयी है। यहाँ धातु की मूर्तियाँ बनाने वाली एक भट्ठी मिली है। स्तूपो को छोडकर यहाँ का अन्य कोई आकर्षण नही है। सम्भवत यहाँ की भी दीवालें पहले कलात्मक ढग से सजी रही होगी। चैत्य १४ एक मूर्ति की चरणचौकी एव चित्रो के अवशेषो के कारण अवश्य ही उल्लेखनीय है। इस चरणचौकी पर अवश्य ही कोई विशाल सुन्दर प्रतिमा रही होगी। नालन्दा के शेष क्षेत्र मे भी अनेक ढूह दिखाई देते है। सबकी पूर्ण खोदाई हो जाने पर ही उस विश्वविद्यालय के क्षेत्र के पूर्ण दर्शन हो सकेगे।

नालन्दा के मुख्य क्षेत्र के परिभ्रमण के पश्चात् यहाँ के पुरातत्त्व सग्रहालय का निरीक्षण परम आवश्यक है। यहाँ की सगृहीत सामग्रियो मे लेख, मूर्तिया, मृण-मुद्राएँ दृश्याकित पट्टिया, मृत्पात्र, आदि है। नालन्दा से प्राप्त लेख बडे महत्त्व के है। कारण उनसे नालन्दा के इतिहास पर विशिष्ट प्रकाश पडता है। यहा से प्राप्त देवपाल तथा धर्मपाल, एव समुद्रगुप्त के ताम्रपत्र कलकत्ता संग्रहालय में सुरक्षित हैं। नालन्दा के सग्रहालय मे रक्खे हुए यशोवर्मदेव तथा विपुल-श्रीमित्र के दो पाषाण लेख विशेष महत्त्व के है। प्रथम मे यशोवर्मदेव के मत्री के पुत्र मालदा द्वारा दिये गये दान का उल्लेख है जो उसने बालादित्य द्वारा निर्मित मदिर को दिया था। परन्तु इस दान की अपेक्षा इस लेख का वह वर्णन कही महत्वपूर्ण है, जिसमे नालन्दा के विश्वविद्यालय का विशद् वर्णन दिया गया है। विपुल श्रीमित्र के लेख मे भगवती 'तारा' के लिए बनाये गये एक मदिर तथा उससे सलग्न एक प्रागण एव तालाब के निर्माण का उल्लेख है। इन लेखो के अति-रिक्त मूर्तियो की चौकियो, प्रभामण्डलो तथा ईटो आदि पर भी कई लेख अकित मिले हैं जो सम्पूजन आदि के निमित्त है।

सग्रहालय मे सगृहीत मूर्तियो मे बौद्ध, जैन एव हिन्दू सभी धर्मो की मूर्तियाँ है। नालन्दा से प्राप्त जैन मूर्तिया साधारण होने के कारण महत्व की नही है। हिन्दू मूर्तियो में शिव, विष्णु,

सूर्य, रेवंत, गणेश, पार्वती, सरस्वती, चंडिका, गंगा, आदि की मूर्तियां है। पाषाण मूर्तियो के अतिरिक्त धातु की बनी हिन्दू धर्म की अनेक मूर्तियां भी हैं। नालन्दा में इन मूर्तियो के मिलने का कारण यह हो सकता है कि कुछ लोग बाद में सम्भवत हिन्दू होकर भी यहां रहने लगे थे। इन सभी मूर्तियो मे स० ४ ६३ वाली शिव पार्वती की लास्य मुद्रा की मूर्ति विशेष मोहक है। जो भी हो नालन्दा में जैन एव हिन्दू धर्म की अपेक्षा बौद्ध मूर्तियो की ही प्रधानता है। यह बात स्पष्ट है कि नालन्दा की मूर्तियाँ कला की दृष्टि से कभी भी सारनाथ अथवा मथुरा की कोटि की नही हो सकी। हा यह अवश्य है कि नालन्दा ने धातु की मूर्तियो के निर्माण मे अवश्य ही दक्षता प्राप्त कर ली थी। नालन्दा की विशाल प्रतिमाएँ विशेषकर विहारो मे स्थापित है जो प्राय मध्यकालीन है। स्तूपो की प्रतिकृतियो पर बनी कुछ बौद्ध प्रतिमाएँ अवश्य ही दर्शनीय है। सख्या १४०७ की अवलोकितेश्वर अथवा पद्मपाणि की मूर्ति तथा सख्या एस ८ १५ की मूर्ति अपनी भावभंगिमा के कारण दर्शनीय है। कास्य मूर्तियो मे सख्या १ ५३२ वाली मूर्ति कला की दृष्टि से काफी अच्छी है। इसमे बुद्ध एक गोल कमल पर आसीन दिखाये गये है। यहाँ रक्खी पद्मपाणि की तीन विशाल मूर्तियो का विशेषरूप से उल्लेख किया जा सकता है। सख्या १२ ८ वाली अवलोकितेश्वर की मूर्ति जिसमे व माला, कमल-नाल, तथा अमृतपात्र लिये चित्रित किये गये है ध्यान देने योग्य हैं। प्रज्ञपाणि की सख्या ६ १५७ वाली मूर्ति भी विशेष द्रष्टव्य है। अन्य मूर्तियो मे मजुश्री, जम्भल, तारा, त्रैलोक्यविजया, प्रज्ञापारमिता, मारीची, हारीति, अपराजिता आदि का उल्लेख किया जा सकता है।

मूर्तियो के अतिरिक्त नालन्दा मे प्राप्त विभिन्न प्रकार की मृण् मुद्राएँ विशेष महत्व की है। ये मुद्राएँ विहारो, जनपदो, कार्यालयो, ग्रामसभाओ, राजवशो तथा अन्य सघो एव वर्गों आदि स सम्बन्धित है। इनकी विराट चर्चा अलग से एक स्वतत्र विषय है। इन मुद्राओ में से कुछ पर भगवान् बुद्ध के चित्र तथा कुछ पर चित्रटक के अन अकित है। सबसे प्रमुख मुद्रा नालन्दा विहार के प्रतिष्ठित भिक्षुओ के सघ से सम्बन्धित है। कुछ अन्य मुद्राओ से यह भी सकेत मिलता है कि प्रत्येक विहार अलग-अलग मुद्राएँ प्रयोग मे लाते थे। शासकीय मुद्राओ मे गुप्तवंश के नरसिंहगुप्त एव कुमारगुप्त द्वितीय की, आसाम के भास्कर वर्मा की, कन्नौज के हर्षवर्द्धन आदि की मुद्राएँ उल्लेखनीय हैं। इन मुद्राओ की प्राप्ति इस बात को सिद्ध करती है कि इन राजाओ का सरक्षण नालन्दा को प्राप्त था। इन मुद्राओ के अतिरिक्त नालन्दा से मृत्पात्र भी अत्यधिक मात्रा मे मिले है। इनमे दैनिक जीवन मे प्रयुक्त होने वाली वस्तुएँ है, जो कला की दृष्टि से भी सराहनीय है।

डॉ॰ लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय

लल्लूलाल—जीवनी और रचनाएँ

[१७६१-लगभग १८२४ ई०]

हिन्दी गद्य की ब्रज, राजस्थानी और खड़ी बोली इन तीन शाखाओं में से लल्लूलाल का ब्रज और खड़ी बोली शाखाओं से घनिष्ठ संबंध है और वे खड़ीबोली गद्य के प्रारंभिक उन्नायकों में गिने जाते हैं। इस दृष्टि से हिन्दी साहित्य के इतिहास में उनका महत्वपूर्ण स्थान है। किन्तु उनका क्रमबद्ध वृत्त अभी तक अनुपलब्ध रहा है और उनके ग्रन्थों के संबंध में अनेक प्रकार की भ्रान्तियाँ प्रचलित हैं। प्रस्तुत लेख में उनका जीवन वृत्तान्त, क्रम बद्ध रूप में, प्रस्तुत करने और भ्रान्ति-निवारण का कुछ प्रयास किया गया है।

जीवनी—स्वयं लल्लूलाल ने अपने संबंध में लिखा है —

'श्री-लल्लू-जी-लाल कवि ब्राह्मण गुजराती सहस्र अवदीच आगरे-वासी, सम्वत् १८४३ मे अपना नगर छोड, अन्न जल के आधीन हो, मकसूदाबाद में आया, औ कृपा सखी के चेले गोस्वामी गोपालदास के सतसंग से नव्वाब मुबारक दौला से भेंट कर सात बरस वहाँ रहा। गोस्वामी गोपालदास के बैकुंठ वास पाने से, औ उनके भाई गोस्वामी राम-रंग कौशल्यादास के बरधवान जाने से उदास हो, नव्वाब से बिदा हो, नगर कलकत्ते मे आया, औ बावन लक्खी रानी भवानी के पुत्र राजा रामकृष्ण से परिचय कर, उनके पास रहा। जब उनकी जमींदारी का बंदोबस्त हुआ, औ उन्होंने अपना राज पाया, तब उनके साथ-ही कलकत्ते मे नाटौर को गया। कई बरष पीछे उनके राज मे उपद्रव हुआ, औ वे कैद मकसूदाबाद मे आये। तब उनसे बिदा हो, फिर कलकत्ते मे आया। यहाँ के बडे आदमियों से भेंट की, पर कुछ प्राप्त न हुआ। उन्हीं के थोथे शिष्टाचार मे जो कुछ वहाँ से लाया था, सो बैठ कर खाया। निदान कई बरष के बैठे बैठे घबरा कै जी मै आया कि दक्षिण को चलना चाहिये। यह मनोरथ कर यहाँ से जगन्नाथपुरी तक गया, औ महा-प्रभु के दर्शन किये। संयोग से नागपुर के मनियाँ बाबू भी उसी बरष श्री क्षेत्र मे आये थे उनसे भेंट कर उनके साथ जाने का विचार बीसो बिस्वे पक्का हो चुका था। पर अन्न जल प्रबल है। उसने न जाने दिया, और उलटा खैंच कर कलकत्ते मे ले आया। कुछ दिन पीछे सुना कि एक पाठशाला कंपनी से साहिबो के पढने की ऐसी बनेगी कि जिसमे सब भाषा जाननेवाले लोक रहेंगे। ये समाचार

पाय, चित को अति आनंद हुआ, औ सुना कि पाठशाला के लिये कई एक साहिब मुकर्रर हुए। यह बात सुन, मैंने जाय, गोपी मोहन ठाकुर से कहा कि, आप कुछ सही करै तो मेरी आजीविका कपनी मे हो जाती है। उन्हौने सुन कर दूसरे दिन अपने छोटे भाई श्री हरी मोहन ठाकुर के साथ कर दिया। उन्हौने ले जाय पादरी बुरन साहिब से मिलाया, औ साहिब ने कहा, तू हमारे पास हाजिर रह। मै नित उनके पास जाया करूँ। एक महीने तक मै उनक पास गया। इसमें मेरे जी मे आया कि, न मै इनकी बात समझता हूँ, न ये मेरी समझे। इससे कुछ और उपाय किया चाहिये। यह विचार दीवान काशीनाथ के छोटे पुत्र श्यामचरण बाबू के वसीले से डाकतर रसल साहिब की चिट्ठी ले, डाकतर गिलकिरिस्त साहिब से भेट की। उन्होंने मुझे देख अति प्रसन्न हो कहा, "एक भाषा जाननेवाला हमे चाहिता था। तुम ने अहैअच्छा किया जो हमसे मुलाकात की। तुम्हारी चाकरी नि सदेह पाठशाला मे होगी। तुम हमारे पास नित आया करो। उस दिन से मैं उनके पास जाने लगा, औ जो व पूछते सो बताने। सम्बत् १८५७ मे आजीविका कपनी के कॉलेज मे स्थित हुई।'

लल्लूलाल के उपर्युक्त आत्मकथात्मक अश मे आगरा छोडने से कपनी के कॉलेज मे नोकरी प्राप्त होने तक का विवरण है। आगरा छोडने से पहल का विवरण अभी प्राप्त नही हो सका। विभिन्न व्यक्तियो से सपर्क स्थापित होने के अतिरिक्त उसमे यह ज्ञात होता है कि लल्लूलाल सहस्त्र अवदीच गुजराती ब्राह्मण और आगरे के निवासी थे। रोजगार की तलाश मे वे स० १८४३ (१७८६ ई०) मे आगरा छोड़कर मकसूदाबाद (मुर्शिदाबाद) और फिर कलकत्ता पहुँच और स० १८५७ (१८०० ई०) मे कपनी क कॉलज (फोर्ट विलियम) मे आजीविका स्थापित हुई। इसी वर्ष मार्क्विस वेलजली ने फोर्ट विलियम कॉलेज की स्थापना की थी। लल्लूलाल को नौकरी मिलने मे चौदह वर्ष लगे। किन्तु फोर्ट विलियम कॉलेज क सरकारी हस्तलिखित विवरणों के अध्ययन से यह स्पष्ट निष्कर्ष निकलता है कि १८०० ई० मे उनकी नियुक्ति स्थायी रूप से न हुई थी, वे कवल सर्टिफिकेट मुशी थे। कॉलेज के अधिकारियो द्वारा एक 'भाखा मुशी' की माग १६ फरवरी, १८०२ को स्वीकार की गई थी। २५ फरवरी को कॉलेज कौसिल ने 'भाखा मुशी' के सबध मे १ अगस्त १८०१ से ३१ जनवरी १८०२ तक बिल स्वीकार किया था। किंतु उसमे दी गई अध्यापक सूची मे लल्लूलाल के नाम का उल्लेख नही है। वास्तव मे कॉलेज कौसिल ने प्रारभ में ही एक प्रस्ताव स्वीकार किया था जिसके अनुसार वे विद्यार्थी जो कॉलेज में स्थायी रूप से नियुक्त मुशियो के अतिरिक्त यदि निजी ढग से पढ़ना चाहते थे तो वे उन मुशियो को रख सकते थे जिन्हे अधिकारियो की तरफ से पढाने का प्रमाण-पत्र मिल चुका हो। ऐसे मुशी 'सार्टिफिकेट मुसी' कहे जाते थे। लल्लूलाल भी ऐसे ही मुशी रहे होगे अथवा गिलक्राइस्ट की सहायता मात्र करते रहे होगे। किन्तु इतना निश्चित है कि कॉलेज की स्थापना के समय नियुक्त अध्यापको की सरकारी सूची में उनका नाम नही मिलता।

विद्यार्थियो को सुलेख लिखने के लिए प्रोत्साहन देने की दृष्टि से कॉलेज में सुलेखको की नियुक्ति होती थी। सर्वप्रथम सुदर पडित नागरी सुलेखक और कल्ब अली फारसी सुलेखक

नियुक्त हुए थे। किन्तु कुछ समय बाद व्यवस्था बदल गयी। फारसी सुलेखक हिन्दुस्तानी और फारसी दोनो विभागो में काम करने लगा। नागरी सुलखक कोई न रहा। इसलिए ४ जनवरी, १८०२ को गिलक्राइस्ट ने पचास सिक्का रुपया मासिक वेतन पर एक नागरी सुलेखक (खुशनवीस) माँगा। सुलेखक के साथ-साथ उन्होंने एक किस्सा-खाँ की माँग भी की। किस्सा-खाँ प्रयेक विद्यार्थी क घर जाकर हिन्दुस्तानी में किस्स सुनाया करता था। इससे विद्यार्थियो का भाषा-संबधी ज्ञान बढता था। गिलक्राइस्ट की दोनो मागे ठीक थी और १६ फरवरी, १८०२ को उन्हे कॉलेज कौंसिल की स्वीकृति भी मिल गई।

किन्तु उपर्युक्त पत्र मे इन दानो माँगो से भी अधिक महत्त्वपूर्ण उनकी माँग थी भाषा ('भाखा') मुशी की। गिलक्राइस्ट/ हिन्दुस्तानी मे अरबी-फारसी शब्दो का बाहुल्य रहता था। किन्तु उसका भवन हिन्दुई (आधुनिक अर्थ मे 'हिन्दी') की नीव पर आधारित था। इसलिए बिना हिन्दी ज्ञान के हिन्दुस्तानी का ज्ञान प्राप्त करना कठिन था। कॉलेज के मुशियो का हिन्दी ज्ञान शून्य के बराबर था। इससे गिलक्राइस्ट को बडी कठिनाई होती थी। स्वय उन्ही के शब्दो मे 'मूल मे हिन्दुस्तानी और ब्रजभाषा का इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है कि मुशियो को ब्रजभाषा का बहुत ही अपूर्ण ज्ञान होन के कारण इस अश के सबध म समुचित सहायता के अभाव मे मुझे प्राय कठिनाई का सामना करना पडता हे। इसलिए कॉलिज के कामो मे सहायता करने के लिए मै पचास रुपए वेतन पर एक सुयोग्य व्यक्ति रखन की प्रार्थना करता हूँ।' १६ फरवरी, १८०२ को कॉलेज-कौसिल न उनकी यह 'भाखा'—मुशी की माग सहर्ष स्वीकार की। कहना न होगा कि इस पद पर लल्लूलाल की नियुक्ति हुई। कौसिल ने २५ फरवरी, १८०२ को नागरी सुलेखक और 'भाखा'—मुशी को १ अगस्त, १८०१ से ३१ जनवरी, १८०२ तक का पिछला वतन दे देने की भी स्वीकृति दी। इससे भी पता चलता है कि अब तक लल्लूलाल की स्थायी नियुक्ति न हुई थी और वे सर्टिफिकेट मुशी की हैसियत से कॉलेज मे काम कर रहे थे। स्थायी अध्यापको की ७ जून, १८०२ की नई सूची मे लल्लूलाल का नाम निश्चित रूप से मिलता है। व 'भाखा'—मुशी' कहे गये है। सरकारी कागजात मे भी उनकी नौकरी पाने की मूल तिथि फरवरी, १८०२ है।

किन्तु जेम्स माअर के ६ मई, १८०४ के पत्रानुसार, हिन्दुस्तानी विभाग मे कोई आवश्यकता न रह जाने के कारण लल्लूलाल कॉलेज से अलग कर दिए गए थ। कॉलेज कौंसिल के ११ जून, १८०४ के प्रस्तावानुसार उन्हे जून, १८०४ के अन्त मे वेतन मिलना बन्द हो गया। लेकिन कॉलेज कौंसिल के १७ अक्तूबर, १८०४ के प्रस्तावानुसार उन्हे फिर रख लिया गया और वेतन भी १ जुलाई, १८०४ से दिया, क्योंकि वे उसी समय से रखे माने गए।

उसके बाद कुछ समय तक वे कॉलिज मे काम करत रहे। १६ सितबर, १८०५ को कॉलिज कौसिल ने फिर लल्लूलाल को 'भाखा'—मुशी' के पद से अलग कर दिया, क्योंकि 'भाखा' के अध्यापक के रूपमे उनकी कोई आवश्यकता न समझी गई, और कुछ समयके लिये उन्हे हिन्दुस्तानी अनुवादको के साथ रख दिया गया। समय-समय पर उन्हे हिन्दुस्तानी प्रेस मे तथा अन्य प्रकार के कार्य भी

मिलते रहे। समय आने पर उन्हें कॉलिज से अलग भी किया जा सकता था। वास्तव में वेलेज़ली की कॉलिज-सबंधी बृहत् आयोजना से सहमत न होने के कारण कोर्ट के डाइरेक्टर उस पर अधिक धन व्यय करना न चाहते थे। इसलिए आर्थिक दृष्टि से अनावश्यक अध्यापको तथा अन्य कर्मचारियो को हटा कर खर्च कम करने की कोशिश की जाती थी। कॉलिज की आयोजना में कितनी और किस प्रकार काट छाट की जाय, यह बहुत कुछ गवर्नर-जनरलो और हिन्दुस्तानी विभाग के अध्यक्षो के रुख पर निर्भर रहता था—विशेषत यह बात कि कौन अध्यापक रखा जाय, कौन न रखा जाय हिन्दुस्तानी विभाग के अध्यक्ष के हिन्दी-प्रेम या विरोध पर निर्भर रहती थी। खैर, थोड़े दिन बाद लल्लूलाल फिर भाखा–मुशी के पद पर नियुक्त हुए और लगातार कार्य करते रहे। १ मई, १८२३ को कार्य करने वाले अध्यापको और उनके वेतनो के सरकारी विवरण-पत्र में उनका नाम अन्तिम बार मिलता है। सभवत १ मई, १८२४ से पहले ही उनका देहान्त हो गया था। यदि नियमित रूप से वे अवकाश ग्रहण करते तो उन्हे पेशन मिलती। किन्तु सरकारी विवरणो मे उनकी पेंशन का उल्लेख कही नही मिलता। कॉलिज छोडकर कही और चले जाने का कोई प्रमाण भी उपलब्ध नही है।

१९ दिसबर, १८१६ को, एच० वुड, हिसाब-निरीक्षक, के पास मत्री, लॉकेट, ने कॉलेज का विवरण भेजा था। इस विवरण की विशेषता यह है कि प्रत्येक अध्यापक की तत्कालीन उम्र इसमें दी गई है। लल्लूलाल से सबधित विवरण इस प्रकार है —

सरकारी नौकरी पाने की मूल तिथि	अपने पद पर काम करने की मूल तिथि	व्यक्ति की वर्तमान अवस्था	ईसाई व्यक्ति का नाम	देशी व्यक्ति का नाम	मासिक वेतन
+	+	+	+	+	+
+	फरवरी, १८०२	५५ वर्ष	+	श्रीलाल कवि	५०

इस विवरण के अनुसार लल्लूलाल की जन्म-तिथि १७६१ ई० ठहरती है। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, फोर्ट विलियम कॉलेज के विवरणो से उनकी मृत्यु-तिथि निश्चित रूप से ज्ञात नही होती। किन्तु सभवत उनकी मृत्यु मई, १८२३ और मई, १८२४ के बीच में हुई। इस प्रकार उनकी आयु ६२ या ६३ वर्ष की निकलती है। जिस समय सवत् १८४३, सन् १७८६ मे वे आगरा छोडकर मकसूदाबाद आए उस समय वे २५ वर्ष के थे और वहाँ ३२ वर्ष की अवस्था तक रहे। ३९ वर्ष की अवस्था मे उनकी आजीविका कपनी के कॉलिज मे स्थित हुई।

१८३२ ई० मे 'जनरल कमिटी ऑव पब्लिक इन्सट्रक्शन' की आज्ञा से लिखित 'दाय भाग' के लेखक दयाशकर लल्लूलाल के भाई थे। दयाशकर आगरा कॉलिज मे हिन्दी-शिक्षक थे। सस्कृत मिताक्षरा से उन्होने 'दायभाग' का अनुवाद किया था। आगरा स्कूल बुक प्रेस में काम करने वाले जैशकर 'ब्राह्मण गुजराती सहस्र अवदीच आगरे वाले' भी सभवत. लल्लूलाल के भाई बन्धुओ में थे।

लल्लूलाल के जीवन के सबध मे अभी इतनी ही बाते ज्ञात हो सकी हैं। किन्तु ये सब बातें या तो स्वय उन्ही के आत्म-कथात्मक अश अथवा सरकारी कागजात पर आधारित हैं। इसलिए उनके प्रामाणिक होने मे कोई सदेह नही है।

ग्रन्थ

व्यावहारिक राजकीय दृष्टिकोण से कॉलिज के विद्यार्थियो के लाभार्थ गद्य-पुस्तको की अत्यन्त आवश्यकता थी। कुछ समय तक तो देशी भाषाओ से पुस्तकें नकल करायी गयी। किन्तु शीघ्र ही कॉलिज कौंसिल ने यह व्यवस्था बदल दी। नकल कराने वाली व्यवस्था मे एक तो अशुद्धियाँ रह जाती थी, दूसरे उसमे व्यय भी अधिक होता था। इसलिए नवबर, १८०१ मे कौसिल ने यह निश्चित किया कि प्रधानाध्यापक स्वयं विभिन्न पुस्तको के उपयोगी अश सग्रहीत कर उन्हे छपावे ताकि दोष न रहे और विद्यार्थियो के लिए पुस्तके भी सुलभ हो जायँ। पुस्तक प्रकाशित करने से पूर्व उन्हे अपना सग्रह कौंसिल के पास निरीक्षण और स्वीकृति के लिए भेजना पडता था। कौंसिल के इस नियम के अनुसार विभिन्न विभागो के प्रधानाध्यापक देशी भाषाओ के सग्रह प्रस्तुत करने मे दत्तचित्त हुए। आवश्यकतानुसार भारत की प्राय प्रत्येक भाषा के सग्रह तैयार किए गए आगे चलकर कॉलिज कौंसिल ने यह भी निश्चित किया कि गद्य-पुस्तको के निर्माण के लिए देशी विद्वानो को उनके परिश्रम के बदले पुरस्कार दिए जायँ। कौसिल के उदार सरक्षण मे प्राप्त होने वाले इस प्रोत्साहन की सभी ने सराहना की। प्रधानाध्यापक रचनाओ की सूची और ग्रन्थ-कर्ताओ के सबध मे अपनी सिफारिशे भेज दिया करते थे। लल्लूलालकी लगभग सभी रचनाएँ कॉलिज की इसी नीति के अन्तर्गत निर्मित हुईं। उनकी रचनाओ के नाम इस प्रकार है —

१ 'सिहासन बत्तीसी' (१८०१), सुन्दरदास कृत ब्रजभाषा रचना से,

२ 'बैताल पच्चीसी' (१८०१), सुरत कबीश्वर कृत ब्रजभाषा रचना से,

३ 'शकुतला नाटक' (१८०१), निवाज (नवाज) कृत ब्रजभाषा रचना से,

४. 'माधोनल' (१८०१), मोतीराम कृत ब्रजभाषा रचना से,

५ 'राजनीति' (१८०२), हितोपदेश का ब्रजभाषा अनुवाद,

६ 'प्रेमसागर' (स्वय लल्लूलाल के अनुसार स० १८६० सन् १८०३ ई० मे प्रारभ कर स० १८६६–सन् १८०९ ई० मे पूरा कर छपवाया, प्रकाशन-तिथि १८१० ई०), चतुर्भुज मिश्र कृत ब्रजभाषा रचना से,

७ 'लतायफ-इ-हिन्दी' या 'नकलियात' (१८०१), मनोरजक कहानियों का सग्रह,

८ 'जनरल प्रिंसिपल्स ऑव इनूफ्लैक्शन ऍड कौन्जुगेशन इन दि ब्रजभाखा' (१८११), ब्रजभाषा व्याकरण,

९. 'सभा-विलास' (१८१५), पद्य-सग्रह,

१०. 'माधव विलास' (१८१७), ब्रजभाषा गद्य-पद्य मिश्रित माधव और सुलोचना की कथा; और

११ 'लाल-चन्द्रिका' (सवत् १८७५, १८१८), बिहारी सतसई की टीका।

लल्लूलाल की विभिन्न रचनाओं के मुद्रित संस्करण १८०२ में और उसके बाद प्रकाशित हुए—पूर्ण अथवा आंशिक रूप में। तासी और ग्रियर्सन ने उनकी कुछ रचनाओ की जो तिथियाँ दी हैं वे बाद के सस्करणो की तिथियाँ हैं अथवा प्रकाशन-तिथियाँ है, रचना-काल की तिथियाँ नही है। जैसे, १८०५ 'सिंहासन बत्तीसी' और 'बैताल पच्चीसी' के पूरे ग्रंथो की प्रकाशन तिथि है, न कि रचना-तिथि। ब्रिटिश म्यूजियम मे 'शकुन्तला नाटक' की जो हस्तलिखित प्रति है वह १८०२ के कलकत्ता-संस्करण के अनुसार है। १८०२ मे 'सिहासन बत्तीसी' के ३६ पृष्ठ हरकारा प्रेस मे, 'शकुन्तला के २४ पृष्ठ कलकत्ता गजट प्रेस मे छप चुके थे। 'माधोनल' और 'बैताल पच्चीसी का छपना अभी आरभ नही हुआ था। ये दोनों क्रमश हरकारा और मिरर प्रेस से छपने वाली थी।

लल्लूलाल की रचनाओ की सूची से यह स्पष्ट हो जाता है कि, केवल 'ब्रजभाषा' व्याकरण को छोडकर उनका कोई ग्रन्थ मौलिक नही है, लगभग सभी किसी-न-किसी अन्य ग्रन्थ के आधार पर लिखे गए है। इसके अतिरिक्त 'व्याकरण' और 'सभा-विलास' को छोड कर उनके सभी ग्रन्थो का सबध गद्य से है।

प्रथम चार ग्रन्थो का सरकारी अतएव प्रामाणिक आधारो पर आधारित प्रकाशन- इतिहास प्रस्तुत लेखक कृत 'फोर्ट विलियम कॉलेज' (स० २००४) मे दिया जा चुका है। उनका उल्लेख करते हुए स्वय लल्लूलाल का कथन है —

'एक दिन साहिब ने कहा कि "ब्रज-भाषा में कोई अच्छी कहानी हो, उसे रेखते की बोली मे कहो।" मैंने कहा, "बहुत अच्छा, पर इसके लिये कोई पारसी लिखनेवाला दीजे, तो भली भाति लिखी जाय।" उन्होने दो शाइर मेरे तैनात किये, मजहर अली खान विला और मिलजा काजम अली जवाँ। एक बरष में चार पोथी का तरजुमा ब्रज-भाषा से रेखते की बोली में किया। सिहासन बत्तीसी। बैताल पच्चीसी। सकुतला नाटक, औ माधोनल। सम्बत् १८५७ मे आजीविका कपनी के कालेज मे स्थित हुई। इसे उन्नीस बरष हुए। इसमे जो पोथियाँ ब्रजभाषा और खडी बोली औ रेखते की बनाई सो सब प्रसिद्ध है।'

यह कथन सवत् १८७५ सन् १८१८ ई० का है। उनके कथन से यह प्रतीत होता है कि वे ही इन चारो ग्रन्थों के प्रधान रचयिता थे, विला और जवाँ उनके सहायक मात्र थे। किन्तु वास्तव मे परिस्थिति कुछ भिन्न है। फोर्ट विलियम कॉलेज के सरकारी हस्तलिखित विवरणो, उपर्युक्त चारो ग्रन्थो की मूल प्रतियो, गार्सां द तासी के कथनो आदि का अध्ययन करने से यह प्रमाणित हो जाता है कि लल्लूलाल कम-से-कम 'शकुन्तला नाटक', 'बैताल पच्चीसी', और 'माधोनल' के प्रधान रचयिता नही थे। वे तो कथा से परिचय कराने वाले थे, भाषा जवाँ और विला की थी। 'सिहासन बत्तीसी' की जितनी छपी हुई प्रतियाँ प्रस्तुत लेखक के देखने में आई है उनमे भूमिका भाग न रहने के कारण निश्चित रूप से कुछ कह सकना कठिन है, किन्तु तासी के कथन से इतना तो स्पष्ट हो ही जाता है कि वह भी अकेले लल्लूलाल की अपनी रचना नही है। और १९ अगस्त, १८०३ को गिलक्राइस्ट ने जो पुस्तक-सूची कॉलिज कौंसिल (२९ अगस्त, १८०३

की बैठक) के पास भेजी थी उसमे तो केवल मिर्जा काजिम अली 'जवाँ' को 'सिहासन बत्तीसी', और शकुन्तला नाटक' का रचयिता, और केवल मजहर अली खा 'विला' को 'बैताल पच्चीसी' और 'माधोनल' का रचयिता बताया गया है। इसलिए इन प्रमाणो के आधार पर लल्लूलाल और उपर्युक्त चारो ग्रन्थो के संबध मे परिस्थिति स्पष्ट हो जानी चाहिए और उनकी अपनी भाषा-नीति की आलोचना करते समय इन चारो ग्रन्थो को बहुत महत्व प्रदान नही करना चाहिए। ये उनके स्वतत्र ग्रन्थ नही थे।

'राजनीति' सस्कृत 'हितोपदेश' का भाषानुवाद है, यह तो सर्वविदित है। किन्तु ग्रियर्सन और प० रामचन्द्र शुक्ल द्वारा तथा नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित 'प्रेमसागर' की भूमिका में उसकी रचना तिथि १८१२ दी है, जो अशुद्ध है। यह अनुवाद मूलत १८०२ मे गिलक्राइस्ट की अध्यक्षता मे हुआ था। १८०३ के कॉलेज कौसिल के विवरणो मे उसका प्रेस मे भेजे जाने और छपने का उल्लेख तो मिलना है, किन्तु वह पूरी छप गई थी या अधूरी छपी थी, इसका उल्लेख नही मिलता। उस समय सभवत उसका कुछ अश ही छपा होगा, क्योकि आगे के विवरणो से यह ज्ञात होता है कि मतभेद हो जाने के कारण कॉलिज कौसिल ने गिलक्राइस्ट की अनेक सिफारिशे अस्वीकार की थी। कौसिल द्वारा अधिकृत रचनाओ की सूची मे 'राजनीति' का नाम नही है। इसलिए अन्य अनेक रचनाओ के अतिरिक्त 'राजनीति' का प्रकाशन भी रुक गया होगा। कॉलिज लाइब्रेरी द्वारा 'राजनीति' की छपी प्रतियो की प्राप्ति स्वीकार का उल्लेख भी कही नही मिलता। अत मे वह १८०९ मे प्रोफेसर जे० डब्ल्यू० टेलर की अध्यक्षता मे प्रकाशित हुई। तासी ने भी उसके प्रथम सस्करण की तिथि १८०९ ही दी है।

लल्लूलाल की सबसे अधिक प्रसिद्ध रचना 'प्रेमसागर' है। विषय की दृष्टि से तो उसमे कोई नवीनता नही है, किन्तु खडीबोली गद्य का प्रारभिक रूप प्रस्तुत करने मे उसका महत्त्व अवश्य है। इस ग्रन्थ की भूमिका मे 'यामिनी भाषा छोड, दिल्ली आगरे की खडीबोली मे कह' इन शब्दो पर विचार करना जरूरी है। क्योकि इन शब्दो के फलस्वरूप एक ओर विदेशी शब्दो का बहिष्कार करने की प्रवृत्ति उत्पन्न हुई, तो दूसरी ओर खडीबोली हिन्दी को अरबी-फारसी शब्दो से रहित एक कृत्रिम गढी हुई भाषा बताया गया। य दोनो भ्रमात्मक धारणाएँ लल्लूलाल के कथन को उसकी वास्तविक पीठिका के साथ न समझने के कारण है।

फोर्ट विलियम कॉलेज के हस्तलिखित विवरणो मे सर्वत्र 'प्रमसागर' की भाषा 'हिन्दवी', या 'ठठ बोली', कभी-कभी 'खडीबोली', कही गई है। यही 'हिन्दवी' थी जिस पर हिन्दुस्तानी या उर्दू का प्रासाद खडा हुआ था, जो मुसलमानी आक्रमण से पहले समस्त 'हिन्दुस्तान' मे प्रचलित थी, जिसमे सस्कृत तत्त्व प्रधान रहता था और जिसका शुद्ध रूप हिन्दुओ मे प्रचलित था। गिल-क्राइस्ट को अपने भाषा-संबधी विचारो के अनुसार हिन्दवी और हिन्दुस्तानी के घनिष्ट सबध और साथ ही कॉलिज के विभाग के मुशियो के हिन्दवी-सबधी अज्ञान को देखते हुए अत्यधिक कठि-नाई का सामना करना पडता था। इसी कठिनाई को दूर करने के लिए उन्हे एक सुयोग्य व्यक्ति की आवश्यकता थी, और वे यह अभाव दूर करने के लिए विशेष चितित थे। कॉलिज कौंसिल द्वारा उन

की मांग स्वीकृत हो जाने पर लल्लूलाल की नियुक्ति हुई और लल्लूलाल ने गिलक्राइस्ट की इच्छा-नुसार सिविलियन विद्यार्थियो को हिन्दुस्तानी की आधारभूत भाषा, हिन्दवी, का ज्ञान कराने के लिए'प्रेमसागर' की रचना की। स्वय गिलक्राइस्ट हिन्दवी से भली भांति परिचित नही थे। अतएव लल्लूलाल की नियुक्ति मे उन्हे एक हिन्दवी जानने वाला भी मिल गया। कॉलेज में 'भाखा'—गद्य शुद्ध और ठीक-ठीक लिखने वालो मे लल्लूलाल से अधिक योग्य और कोई पण्डित नही था। लल्लूलाल के 'प्रेमसागर' को गिलक्राइस्ट हिन्दवी का एक उपयोगी ग्रन्थ ही नही समझते थे, वरन् टेलर और विलियम प्राइस के मतानुसार वह हिन्दुस्तानी भाषा के परिपक्व ज्ञान के लिए अत्यन्त सहायक था। 'प्रेमसागर' के वास्तविक उद्देश्य का सबसे बडा प्रमाण तो पुराने सरकारी कागजात के आधार पर अब्राहैम लौकेट (१८१३ मे कॉलेज के मत्री) के भेजे हुए विस्तृत विवरण (१८१३) मे उपस्थित है। उसमे 'भाखा'—पुस्तको के अत्यन्त अभाव की दृष्टि से नही, वरन् 'पाठ्य-पुस्तक के रूप मे हिन्दुस्तानी के पूर्ण ज्ञान की उपलब्धि में सहायक होने की सभावना और उपयोगिता' की दृष्टि से भी 'प्रेमसागर' का महत्व स्वीकार किया गया है। अस्तु, एक ऐसी भाषा (हिन्दवी) मे रचना करते समय जो हिन्दुस्तानी की आधारभूत और उसके पूर्ण ज्ञान के लिए अत्यन्त आवश्यक थी, जो मुसलमानी आक्रमण से पूर्व 'हिन्दुस्तान' मे प्रचलित थी, जिसमे अरबी-फारसी शब्दो का अभाव और सस्कृततत्व की प्रधानता थी, जो नागरी लिपि में लिखी जाती थी, यदि लल्लूलाल ने 'यामिनी भाषा' छोडने की बात कही हो तो आश्चर्य ही क्या। इसीलिए प्रेमसागरी भाषा में 'भाखा' का भी इतना प्रभाव है। लल्लूलाल का यह ग्रन्थ न केवल कृष्ण की कथा के माध्यम द्वारा विद्यार्थियो को हिन्दू आचार-विचारो से परिचित कराने की दृष्टि से, वरन् भाषा की दृष्टि से भी प्रधानत कॉलेज के हिन्दुस्तानी भाषा के विद्यार्थियो के लाभार्थ था। इससे अधिक प्रेम-सागरी भाषा का कोई विशेष महत्व नही था। उसकी रचना एक विशेष दृष्टिकोण से हुई थी।

'जनरल प्रिसिपल्स ' के सबध में कोई मतभेद नही है। यह रचना ब्रजभाषा-व्याकरण है और १८११ मे प्रकाशित हुई थी।

लल्लूलाल कृत 'सभा विलास' फोर्ट विलियम कॉलेज के सरक्षण मे निर्मित रचना है। उसकी रचना तिथि इस प्रकार है।

'ख ऋषि वसु चन्द्र गहि गनौ सवत् को परमान।
माघ सुकल नवमी रवौ कियौ ग्रथ निर्मान।।'

जनवरी, १८१५ मे यह रचना छपकर तैयार हुई। यह सग्रह ग्रन्थ है जिसमे रहीम, तुलसी, बिहारी, वृन्द आदि हिन्दी के प्रसिद्ध कवियो के दोहे तथा अलकार, पिगल, राग-रागनियो के लक्षण आदि और परवाने, मुकरियाँ, पहेलियाँ आदि हैं।

'लतायफ-इ-हिदी' में 'हिन्दी' शब्द भ्रामक है। गिलक्राइस्ट द्वारा प्रयुक्त शब्दावली के अनुसार यह हिदी' शब्द 'हिन्दुस्तानी' या 'उर्दू' या 'रेख्ता' का पर्यायवाची है। लल्लूलाल ने यह सग्रह छोटी-छोटी शिक्षाप्रद कहानियो का सग्रह —फारसी और नागरी दोनों लिपियो में छपाया था। हिन्दुस्तानी भाषा के अँगरेज विद्यार्थियो को उससे काफ़ी लाभ पहुँचा था। उसकी भाषा

सरल हिन्दुस्तानी है, क्योंकि लतीफो की भाषा है। स्वय लल्लूलाल ने फारसी में लिखे गए अपने पत्र में उसे 'बज़ुबान-इ-रेख़्ता' कहा है। कॉलेज के विवरणो में उसे 'उर्दू और हिंदवी मे किहानियो का संग्रह' कहा गया है। किन्तु हिन्दवी का स्थान उसमे नगण्य सा है। प्रधानता उसमे हिन्दुस्तानी की है। वास्तव में 'लतायफ-इ-हिन्दी' की रचना उर्दू के कहावतो और मुहावरो की छटा दिखाने और उसका या हिन्दुस्तानी का ज्ञान प्राप्त करने मे सहायता लेने की दृष्टि से हुई थी।

प्रस्तुत लेख की दृष्टि से लल्लूलाल कृत शेष रचनाओ मे 'माधव विलास' या 'माधो विलास' विशेषरूप से उल्लेखनीय है, क्योकि अन्य रचनाओ के सबध मे कोई विशेष भ्रम प्रचलित नही है। उनकी 'राजनीति' और 'माधव विलास' को ब्रजभाषा गद्य-परपरा की अतिम महत्त्वपूर्ण उपलब्ध कृतियाँ कहा जा सकता है। 'राजनीति' (हितोपदेश') का विषय ज्ञात ही है। 'माधव विलास' का उल्लेख तो हिन्दी साहित्य के कई इतिहास-ग्रन्थो मे मिलता है, किन्तु ग्रन्थ के विषय से कोई लेखक परिचित प्रतीत नही होता। जिन एक-दो लेखको ने उसका परिचय देने की चेष्टा की भी है उन्होने पाठको को और भी भ्रम मे डाल दिया है।

फ्रेंच लेखक तासी ने 'माधव' से 'कृष्ण' का अर्थ लेकर उसे काव्य-ग्रन्थ बताया है। ग्रियर्सन ने 'माधव विलास' का केवल उल्लेख भर किया है और इसके तथा अहमदाबाद के गुजराती लेखक रघुराम कृत 'माधव विलास' शीर्षक नाटक के बीच शका प्रकट की है। 'सरोज' और 'विनोद' मे इस ग्रन्थ के केवल नाम का उल्लेख है। प० रामचन्द्र शुक्ल ने 'माधव विलास' को ब्रजभाषा पद्य का, 'सभा-विलास' की भाति, संग्रह-ग्रन्थ बताकर भूल की है। शुक्ल जी के बाद के इतिहास-लेखको ने 'माधव विलास' का उल्लेख तक नही किया।

वास्तव मे 'माधव विलास' गद्य-पद्य-मिश्रित रचना है। वैसे तो 'प्रेमसागर' और 'राजनीति मे भी पद्याश मिलते है, किन्तु 'माधव विलास' में पद्यो की सख्या कुछ अधिक है, किन्तु वह प्रधानत है गद्य-ग्रन्थ। गोसाईं जी का सदुपदेश, रानी का सौंदर्य-वर्णन आदि कुछ बाते पद्य मे और प्रधान कथा ब्रजभाषा गद्य मे है। पद्याश में मतिराम के छदो का भी प्रयोग हुआ है। प्रधान कथा पद्मपुराणातर्गत 'क्रियायोगसार' से ली गई है। उसमें लालध्वज नामक नगर के राजा विक्रम के पुत्र माधव और प्लक्ष द्वीप की दिव्यवती नगरी मे गुणाकर राजा की सुशीला पत्नी की कन्या सुलोचना के मिलन, विरत आदि और अन्त मे गगासागर मे विवाह होने का उल्लेख है। गगासागर के राजा सुसैनी को सब हाल मालूम होने पर अत्यन्त प्रसन्नता हुई। उसने भी अपनी कन्या जयन्ती माधव को दे दी और साथ में अपना आधा राज्य दहेज मे दे दिया। वही सुखपूर्वक रहते हुए माधव धर्म-नीति के अनुसार राज्य करने लगा। अत मे लिखा है कि जो माधव-सुलोचना की कथा पढेगा वह ससार मे कभी ठगा नही जायगा और गृहस्थाश्रम मे अत्यन्त सुख पावेगा। इस कथा का कुछ अश आगरा स्कूल बुक सोसायटी द्वारा प्रकाशित 'स्त्री शिक्षा विषय' (१८४७) में भी सम्मिलित है। यह पुस्तक खडी बोली मे है। किन्तु यह अश लल्लूलाल के ग्रन्थ से नही लिया गया।

लल्लूलाल के प्रसग मे इस बात का उल्लेख कर देना भी उचित होगा कि उन्होंने गिलक्राइस्ट के निरीक्षण में 'दि ऑरिएटल फैब्यूलिस्ट' (१८०३) मे सग्रहीत ईसप तथा अँगरेज़ी भाषा की अन्य पुरानी कहानियो का ब्रजभाषा ('भाखा') मे अनुवाद किया। सग्रह में ब्रजभाषा अनुवाद के अतिरिक्त अन्य लेखको द्वारा किए हुए हिन्दुस्तानी, बँगला, सस्कृत, फारसी और अरबी अनुवाद भी है।

अन्त में, 'लाल चन्द्रिका' के सबध मे स्वय लल्लूलाल का कथन इस प्रकार है —

'अब सम्बत् १८७५ मे अमर-चद्रिका, अनवर-चद्रिका, हरिप्रकाश टीका, कृष्ण कवि की टीका कवित्त-वाली, कृष्ण-लाल की टीका, पठान की टीका कुडलियौं-वाली, सस्कृत टीका, ये सात बिहारी सतसई की टीका देख विचार, शब्दार्थ औ भावार्थ औ नायका-भेद औ अलकार उदाहरण समेत उक्ति युक्ति से प्रकाश करि, लाल-चद्रिका टीका बनाई, औ छपवाई निज छापे-खाने मे श्री-मान धी-मान पण्डित कवि-रसिक हरि-भक्तौ के आनदार्थ।'

× × ×

'ग्रथ छपा सस्कृत प्रेस मे। छापा श्री-गुरु-दास पाल ने। जिस किसी को छापे की पोथी लेने की अभिलाषा हो। तिसे कलकत्ते मे दो ठौर मिलेगी। एक पटल डाँगे मे श्री-लल्लू-जी के छापे-खाने मे, औ दूजें बडे बाजार मे श्री-बाबू मोती-चद्र गोपाल-दास की कोठी मे, श्री हरि-देव-सेठ के यहाँ।'

टीका पदान्वय शैली तथा ब्रज-मिश्रित खड़ी बोली मे है। हिन्दी साहित्य के इतिहास मे लल्लूलाल और उनकी रचनाओ का उल्लेख करते समय उपर्युक्त तथ्यो पर ध्यान रखना आवश्यक है।

श्री रमाशंकर तिवारी, एम० ए०

महाकवि श्रीहर्ष का प्रकृति-वर्णन

कवित्व एव पाडित्य का मणिकाचन सयोग 'नैषधीय चरित' की सर्व-प्रमुख विशेषता है। अनुभूति का माधुर्य कल्पना के लालित्य मे समन्वित होकर इस महाकाव्य को अभिनव सौष्ठव से विभूषित करने मे समर्थ हुआ है। कवि की विद्वत्ता की छाप प्रत्येक पृष्ठ, प्रत्येक श्लोक मे स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है। वस्तुत इस महीयसी काव्य-कृति को आस्वादित करने के लिए सम्पूर्ण अलंकार-शास्त्र तथा भारतीय दार्शनिक एव धार्मिक चिन्ता का पूर्ण तथा सूक्ष्म ज्ञान अत्यावश्यक प्रतीत होता है। इसके अध्ययन के समय पाठक को अनायास महाकवि मिल्टन का स्मरण हो आता है जिसका 'पैरेडाइज लॉस्ट' उसके गहन पाडित्य का विद्योतक है। यद्यपि श्रीहर्ष ने लगभग प्रत्येक सर्ग की समाप्ति मे अपनी रचना को "निसर्गोज्ज्वल" (स्वभाव से ही सुन्दर) बताया है, तथापि हमें भय है कि काव्य के सहज सौन्दर्य के अभिलाषी सहृदय कदाचित् ही इस निर्णय से सहमत होगे। वास्तव मे, श्रीहर्ष काव्यानुरागियो के निकट सस्कृत-साहित्य की उस अलकृत शैली के मुकुटमणि के रूप में ही समादृत रहे है जिसका प्रवर्तन ईसवी सवत् ६०० के आसपास भारवि ने किया था--"उदिते नैषधे काव्ये क्व माघ क्व च भारवि ?"

श्रीहर्ष ने 'नैषधीय चरित' मे महाभारत के प्रसिद्ध प्रमाख्यान नल-दमयती की आख्यायिका वर्णित की है। अतएव, प्रेम के मधुर क्षत्र मे, अथवा यो कहना अधिक समीचीन होगा कि नागर किवा नरेश-सुलभ प्रेम की सकुचित सीमा मे बहि प्रकृति का जितना अश सन्निविष्ट हो सकता है, तथा उसकी ओर जिस दृष्टिभगी से देखना शृगार-पिपासुओ को प्रिय लग सकता है, उतना ही अश और वही दृष्टि-भगी हमे श्रीहर्ष के प्रकृति-वर्णन अधिकाशतया प्राप्त करने की आशा करनी चाहिए।

प्रथम सर्ग में कवि ने राजा नल के विलास-कानन का मनोरम वर्णन किया है। दमयती के रूप-सौंदर्य की प्रशस्ति सुनकर नल के धैर्य का कवच ध्वस्त हो गया क्योंकि विधाता भी नल-दमयती के सगम का अभिलाषी था—

"अनेन भैमीं घटयिष्यतस्तया विधेरवन्ध्येच्छतया व्यलासि तत्।
अभेदि तत्तादृगनगमार्गणैर्यदस्य पौष्पैरपि धैर्यकञ्चुकम्॥"

अतएव, लाख प्रयत्न करने पर भी जब नल 'अनंग-चिह्नों' का अपह्नव न कर सका, तब वह अत्यंत अंतरंग मित्रों के साथ विहारोद्यान मे गया जैसे विष्णु मेघ के समान कान्ति वाले, प्रवालरागच्छुरित समुद्र में शयनार्थ चले जाते है। उपवन में पहुँचने पर वृक्षो ने वात-व्याधि के कारण कंपित-पाणि वाले वृद्ध महर्षियो से सीख कर, पल्लवरूपी करो में फलो का उपहार लेकर, नल का स्वागत एवं आतिथ्य किया। तब माली-द्वारा उस क्रीडा-कानन की कमनीयता निवेदित की गई जिससे राजा को शान्ति एव उन्ताप, दोनो प्रकार के अनुभव हुए। कवि का यह वर्णन 'उद्दीपन विभाव' की कक्षा में ही प्रस्तुत हुआ है जो, परिचित होते हुए भी, हृदयावर्जक है।

कानन में केतकी के नुकीले फूल खिले हुए थे जो काँटो से क्रूर थे और जिनकी नोक रूपी सुई के द्वारा कामदेव कामि-कामनियो के दुर्यश रूपी वस्त्रो को सीता है तथा जिसके आरे के समान तीक्ष्ण पत्रो से वियोगियो के हृदय-रूपी काठ पर बडा निर्मम आचरण करता है। अनार के वृक्षों मे फल लगे हुए थे जो मानो दमयन्ती के कुचो की उच्चता प्राप्त करने के लिए तप कर रहे थे। उनमे काँटे लगे ऐसे प्रतीत होते थे जैसे प्रियतम-स्मरण के कारण वियोगिनी नायिका के शरीर मे प्रस्फुटित हुए रोमाच हो। दाडिमी के फलो के फटे हुए लाल-लाल भीतरी भागो में सुग्गो की चोचें प्रवेश करती थी जैसे नायिका के स्तनो के मध्यवर्ती प्रान्त में कामदेव के पुष्प-बाण प्रवेश करते हो। चम्पे की कलियो की माला दीख पडी मानो कामदेव को बलि देने की दीपिकाएँ हो। भ्रमरो की गुजार से गुजायमान रसालमाल वायु के सघात से हिल रहे थे मानो वे विरहियो को हिलनेवाली कलियो से वर्जित कर रहे हो। नागकेसर के फूल में से पराग निकल रहा था जो ऐसा भासित हो रहा था मानो सान रखने का पत्थर हो जिस पर कामदेव के बाणो को घिसकर उन पर सान चढाई जाती हो ("मालाराचनिघर्षणस्खलज्ज्वलत्कणंशाणमिव") और उससे जलती चिनगारियाँ निकल रही हो। बिल्व-वृक्षो मे पके बेल निकले थे जो वारनारियों के कुचो से तुल्यता कर रहे थे।

श्रीहर्ष ने इस स्थल पर वृक्षो तथा फूलो का जो वर्णन किया है, वह उसकी शृंगाररस-लिप्सु कल्पना के चमत्कार से आकर्षक बन गया है। यद्यपि एकाध दशा मे उसने गलत अकन भी किया है—जैसे चपे के फूल पर भौरो का बैठना—तथापि अधिकाशतया उसके चित्रण का यथार्थ उसकी रसीली कल्पना में सन कर स्निग्ध एवं अभिराम बन गया है। नीचे एक हिलती, मुकुलित तरुण वल्लरी का चित्र अकित हुआ है जो निरलकृत तथा साथ-ही अत्यंत कोमल है—

"नवा लता गन्धवहेन चुम्बिता करंबितांगी मकरन्दशीकरैः।
वृशा नृपेण स्मितशोभिकुड्मलादराऽऽदराभ्यां दरकंपिनी पपे।"

'वह नव-लता नव-विकसित कलियों से शोभित थी। उस पर मकरन्दकण व्याप्त थे। पवन उसे चूम रहा था। इससे वह थोडी-थोडी हिल रही थी। इस नई कोंपल वाली तरुण लता का नल ने, भय तथा आदर के साथ, नेत्रो द्वारा पान किया।' इस चित्र में कवि के अन्वीक्षण उसकी ऋजुता एव सचाई, तथा कोमल सहृदयता का मंजुल प्रकाश फूट पडा है। "भय और आदर

के साथ" मे जो व्यंजना गर्भित है, वह ध्वनि के अनुरागियों के लिए अत्यन्त मूल्यवान् है। नव-लता नल की प्राणवल्लभा दमयंती की प्रतीक है जो नवयौवन की सक्रान्ति मे कोमल एवं अपरिचित प्रेम की स्वर्ण-निधि अपने अतराल मे सँजोए हुए है। कदाचित् नल को उसकी याद हो जाती है, और जब वह भ्रमर को उसे चूमते हुए देखता है जिससे लता कांप जाती है, तब नल अपनी प्यारी की भ्रान्ति मे भयभीत हो उठता है। आदर का भाव इसलिए जागृत होता है कि लता सुकुमार और कमनीय है अथच प्रेम से कोमलीकृत चित्त वालो के लिए सौंदर्य सदैव ही आदर की वस्तु है। वस्तुत श्रीहर्ष जैसे शृगारी कवि से प्रकृति के तटस्थ चित्रण की आशा नही की जा सकती। इस कक्षा के कवियो ने जब-जब प्रकृति की सुषमाओ के ऊपर दृष्टि-निक्षेप किया है, तब-तब उन्हे अपने प्रेमी-प्रेमिकाओ की रागासक्ति मनोदशा की माया मे उन्होंने निमज्जित कर दिया है। यही कारण है कि नल को बिल्व-फल मे दमयती के उरस्थो का भान होता है तथा दाडिमी के फलो के फटे हुए भीतरी भागो में नायिका के स्तनो के मध्यवर्ती प्रान्त की काम-शर-कृत दरार दिखायी पड़ती है।

पहले कहा गया है कि विलासकानन के विटपो ने प्रेम-व्यग्र नल का बडा आतिथ्यपूर्ण स्वागत किया। नल भी प्रीतिपूर्वक उनकी स्तुति करता है क्योंकि वे वृक्ष फल-गौरव से पृथिवी का अभिवादन कर रहे है क्योकि पृथिवी ही वृक्षो की धात्री है—

"गता यदुत्सगतले विशालतां द्रुमा. शिरोभि फलगौरवेण ताम्।
कथं न धात्री मतिमात्रनामितैः स वन्दमानानभिनन्दतिस्म तान्॥"

कवि के प्रकृति-चित्रण मे पृथ्वी के प्रति श्रद्धा-भावना प्रस्फुटित हुई है। भारतीय परम्परा मे पृथ्वी की पूजा का विधान चला आया है। क्योकि वह प्राकृतिक सुषमाओ या निधियो के एक प्रभूत अश को जन्म तथा जीवन प्रदान करती है जिनसे हमारे जीवन का भी घनिष्ठ सबध है। राजा नल का स्वागत केवल वृक्षो ने ही नही किया, प्रत्युत विलासवापी की तटीय तरगो, कोयलो की कूजनों तथा मयूरो के कुशल नृत्यो ने भी वन में नल की आराधना की—

"विलासवापीतटवीचिवादनात्पिकालिगीतै. शिखिलास्यलाघवात्।
वनेऽपि तौर्यत्रिकमारराधतं क्व भोगमाप्नोति न भाग्यभाग्जनः॥"

शुकों और सारिकाओ ने नल के यशोगान से उसका अभिनन्दन किया तथा लता-रूपी अग-नाओ को लास्यकला सिखाने वाली, तरु-प्रसूनो के सौरभ का अपहरण करने वाली एव मकरन्द रूपी जल में क्रीड़ा करने वाली वन की वायु ने भी उद्विग्न नल की सेवा की—

"लताबलालास्यकलागुरुस्तरुप्रसूनगंधोत्करपश्यतोहर'।
असेवताऽमुं मधुगन्धवारिणि प्रणीतलीलाप्लवनो वनानिल:॥"

'अभिज्ञानशाकुतल' के चतुर्थ अक में कविकुलगुरु कालिदास ने शकुंतला की बिदाई का जो मर्मद्रावक चित्र अंकित किया है, उसमें मनुष्यों ने ही अपनी सहानुभूति अथवा प्रेम की व्यंजना

नहीं की है, अपितु लताओं एवं मृगशावकों ने भी शकुंतला के आसन्न वियोग में अपनी मूक व्यथा का प्रकाशन किया है। कालिदास के चित्रण से ऐसा प्रतीत होता है कि शकुतला तथा आश्रम की लता-वल्लरियों में निरतर भावों का आदान-प्रदान होता रहता था। उतनी दूर न जाकर भी, श्रीहर्ष ने नल के अभिवादन-अभिनंदन में जो लता-वीरूधो, पक्षियो तथा प्रकृति के अन्य पदार्थों किंवा शक्तियों को नियोजित किया है, वह पूर्णतया भारतीय भावना के अनुकूल है। हमारे कवि ने यदि प्रकृति की कुछ वस्तुओ या सत्ताओ को नल के लिए संतापकारक अथवा ईर्ष्याभिभूत दिखाया है तो कुछ को उसके प्रति आदर एव स्नेहपूर्ण सहानुभूति से अनुप्राणित भी चित्रित किया है अथवा कुछ के प्रति स्वय नल को ईर्ष्यालु निदर्शित किया है, यथा—

> "पुरा हठाक्षिप्ततुषारपाण्डुरच्छदा वृतेर्वीरुधि बद्धविभ्रमा ।
> मिलन्निमील ससृजुर्विलोकिता नभस्वतस्त कुसुमेषु केलयः ॥"

'पुष्पो में क्रीडा करती हुई वायु ने पहले हठपूर्वक बर्फ से श्वेत पत्रों को चलायमान किया, फिर झाडी की लताओ मे भरपूर भ्रमण किया। उसकी क्रीडा देखकर नल ने नेत्र बन्द कर लिए।' पहले दिखा चुके हैं कि नव-लता को अपनी तन्वगी प्रिया की प्रतीति हुई और यहाँ पवन की क्रीडा मे उसे स्वय ईर्ष्या हो रही है कि वह क्यो अपनी प्रियतमा के ससर्गज आनद से वंचित है जबकि यह वनपवन लताओ को झकझोर रहा है।

वस्तु-स्थिति यह है कि कवि की दृष्टि में प्रकृति की जीवनचर्या मनुष्य के लिए नियोजित है—उसका तब तक कोई मूल्य नही है जब तक वह मनुष्य के राग-विरागो में किसी न किसी प्रकार सहकार न करे।

प्रस्तुत प्रसग मे श्रीहर्ष न काननस्थ तालाब का वर्णन किया है। यह वर्णन कुछ तो अवेक्षण की सचाई प्रतिध्वनित करता है और कुछ कवि की अलकृत कल्पना का लालित्य प्रदर्शित करने के हेतु नियोजित है। सम्पूर्ण तडाग को चिरकाल से एकत्र हुए पुराने रत्नो से समन्वित समुद्र से तुलित किया गया है। तटप्रान्तीय भूमि को तोडकर निकले तथा जल से आधा ढके कमल-नाल दिखाई पड रहे थे जो शेषनाग की पूछो के सदृश शोभायमान ऐरावतो के दाँतो के समान थे। जल में पडनेवाले तटस्थित नल के घोडो के प्रतिबिम्ब ऐसा जान पडते थे जैसे लहर-रूपी चाबुको से ताडित चचल सहस्रो उच्चै श्रवा हो। श्वेत कमलो पर काले भ्रमर बैठे हुए थे जो ऐसा प्रतीत होता था मानो अधकार के समान कलक से व्याप्त चन्द्रमा हो। तालाब के बीच मे उसकी प्रिया तरगमाला बिलासित थी तथा थोडी खिली हुई लाल कमलो की कलियाँ शोभती थी जो ऐसा भासित होना था मानो समुद्र के उत्सग में उसकी वल्लभा नदियाँ तथा विद्रुमो के अकुर हों। तरगो के विलास से शैवाललताओ के समूह ऐसा जान पडते थे जैसे बडवानल से निकला धूमपुज हो। तडाग के जल में प्रतिबिंबित तटीय द्रुम ऐसा मालूम होता था मानो पवन प्रेरित लहरो मे चचल तथा पाँखो को कँपाता मैनाक पर्वत भीतर प्रविष्ट हो गया हो।

विचार करने से तडाग का सश्लिष्ट चित्र पाठक के मानसनेत्रो के समक्ष उतर आता है।

कवि ने उन सभी वस्तुओं को प्रत्यक्षीकृत कर दिया है जो किसी तालाब के सौन्दर्य-तत्त्व है। नल के अश्वों के जलावतीर्ण प्रतिबिंबो की चर्चा कर उसने इस बात का भी प्रमाण प्रस्तुत किया है कि उसका चित्रांकन यथार्थ अवेक्षण पर आधारित है। समुद्र के रूपक का निर्वाह भी सुन्दर ढंग से हुआ है। किन्तु, कवि की कल्पना पौराणिक विश्वासो पर आश्रित है। अतएव, कुछ उपमान ऐसे नियुक्त हैं जो प्रस्तुत का अधिक प्राजल बिबग्रहण कराने की अपेक्षा हमारा ध्यान पुराणकथा की ओर अधिक आकृष्ट करते है। यद्यपि वह पौराणिक गाथा आज भी भारतीय पाठक के लिए दुर्बोध नही है, तथापि शुद्ध काव्यदृष्टि से, प्रकृति-चित्रण के लिए उसे नियोजित करना हमारी सम्मति में स्पृहणीय नही है। अपने विचार को ठोस आधार देने के लिए हम नीचे इसी प्रसंग का दूसरा श्लोक उद्धृत कर रहे हैं—

"रथांगभाजा कमलानुषगिणा शिलीमुखस्तोमसखेन शार्ङ्गिणा।
सरोजिनीस्तम्बकदम्बकैतवान् मृणालशेषाहिभुवान्ययायि यः॥"

'वह तालाब ऐसा जान पडता था मानो कमल की झाडियो के समूह के बहाने उस पर विष्णु शयन कर रहे हों। विष्णु के हाथ मे जैसे सुदर्शन चक्र शोभित है वैसे ही सरोवर में चक्रवाक है। विष्णु के साथ लक्ष्मी रहती है, उसमे कमल विद्यमान हैं। विष्णु भ्रमरो के समान काले है, उसके समीप भौंरे भी बने रहते है। विष्णु मृणाल के सदृश सर्प पर शयन करते है, उसमे मृणाल-रूपी शेषनाग से कमल के गुच्छे उत्पन्न हुए है।

विचार कीजिए। कमल, भ्रमर तथा चक्रवाक के अतिरिक्त सरोवर-सौन्दर्य के और कौन-से घटक तत्त्व आप के हाथ लगे है? क्या तडाग-सुषमा की आपकी भावना इस विष्णु-परक रूपक से अधिक स्पष्ट, अधिक प्राजल, अधिक समृद्ध हुई है? यदि नही, तो इस पौराणिक रूपक का नियोजन, काव्य-दृष्टि से निष्प्रयोजन सिद्ध होता है। उपमाओ और रूपको को भाषा की अर्थशून्य समानता के विरुद्ध कवि का विद्रोह बताया गया है, और यह विद्रोह तभी सार्थक एव वाछनीय समझा जाएगा जब वह प्रस्तुत विषय के अधिक स्पष्ट अथवा आह्लादक गोचरीकरण मे सहायक सिद्ध हो। श्रीहर्ष का उपर्युक्त मानसिक व्यायाम, इस दृष्टि से, श्लाघ्य नही कहा जाएगा।

उन्नीसवे सर्ग में नल और दमयती को, रात्रि के सुरतविहार के पश्चात् प्रात काल होने पर, जगाने के लिए वैतालिको ने, अमृत के समान मधुर तथा रसार्द्र गीत गाये है। महाराज की जयजयकार मनाते हुए प्रभात की सुषमा को अपने अलसाए नेत्रो का दान देने के लिए तथा शय्या से उठी दमयनी के मुखकमल के दर्शन से प्रथम शकुन बनाने के लिए वैतालिक नल का आह्वान कर रहे हैं[1]। इस प्रसंग मे श्री हर्ष ने प्रात कालीन सौन्दर्य का अभिराम अकन किया है। कुछ

---

१ "जय जय महाराज! प्राभातिकीं सुषमामिमां
सफलयतमां दानादक्ष्णोर्दरालसपक्ष्मणोः।
प्रथमशकुनं शय्योत्थाय तवाऽस्तु विदर्भजा
प्रियजनमुखाम्भोजाल्लुंगं यदङ्ग! न मगलम्॥" —१९।२

चित्रो की रमणीयता भावक को सद्य आकृष्ट करती है यद्यपि कुछ चित्रो में पुराणकथा के प्रति कवि का मोह कभी-कभी उसके आस्वादन को बाधित करता जान पडता है। नीचे उद्धृत एक श्लोक देखिए जिसमें पौराणिक संकेत चित्र की चर्वणीयता मे कोई व्यवधान उपस्थित नही करते—

"वरुणगृहिणीमाशामासादयन्तममु शची–
निचयसिचयांशाशभ्रंशक्रमेण निरशुकम्।
तुहिनमहस पश्यन्तीव प्रमादमिषादसौ
निजमुखमित स्मेर धत्ते हरेर्महिषी हरित्॥"

'हे राजन्! इन्द्र की महिषी (पूर्व दिशा) दिन का प्रारभ होते ही अपने मुख को नैर्मल्य के बहाने परिहासपूर्वक प्रकट करती है मानो वह वरुण की भार्या (पश्चिम दिशा) को जाते हुए, किरणो के वस्त्र के एक-एक के क्रम से हट जाने के कारण दिगम्बर हुए चन्द्रमा को देखती हो।

विचार कीजिए। पूर्व दिशा नारी है, क्या हुआ उससे यदि वह 'हरेर्महिषी' है? चन्द्रमा के विलास से रात-भर वह खिन्न अथवा अवसादग्रस्त अवस्था मे पडी रही। पौ फटते ही जैसे उसके भाग्य का आलोक फूट पडा। वह अपना निर्मल मुख सोल्लास, अवगुठन हटा कर खोलती है। और, निहार रही है उस चन्द्रमा को जो रात-भर अपनी सभ्रममयी अठखेलियाँ दिखा कर अब नगा हो, पश्चिम दिशा की गोद मे छिपने के लिए पलायन कर रहा है। पूर्व दिशा 'नग्न' चन्द्रमा की ओर निहारती है! क्यो निहारती है? दुर्ललित नारियो के आचरण के अनुरूप अथवा इसलिए कि चन्द्रमा ने अपनी गौरवमयी शोभा के लास्य मे उसका निरादर किया है? व्यग्यार्थ यहाँ है केवल चन्द्रमा की हतप्रभता। लेकिन, कवि ने इसे अपनी रसलिप्सु कल्पना के माधुर्य मे रजित कर सहृदयो के समक्ष एक पूरी अर्थवत्ता उन्मीलित कर दी है। 'किरणो का वस्त्र एक-एक करके हटता गया है, इस कथन मे अवेक्षण की सचाई प्रत्यक्ष झलकती है।

प्रत्यूषोदय का सबसे अभिराम तथ्य है अधकार का क्रमश विलोप और रवि-रश्मियो की शनै. शनै विकीर्णता। श्रीहर्ष ने इस प्राकृतिक व्यापार के अत्यत मजुल चित्र अकित किए है। निम्नोद्धृत श्लोक मे तम पुज एव रवि-मरीचियो के ससर्ग का सौदर्य दरसाया गया है—

"स्फुरति तिमिरस्तोम. पंकप्रपंच इवोच्चकै:
पुरुसितगरुच्चञ्चच्चञ्चूपुटस्फुटचुम्बित:।
अपि मधुकरी कालिमन्या विराजति धूमल–
च्छविरिव रवेर्लाक्षालक्ष्मीं करैरतिपातुकै:॥"

'अधकार का समूह महावर की शोभा का तिरस्कार करनेवाली सूर्य-किरणो के ससर्ग मे उस पक-समूह के समान अत्यत शोभायमान होता है जिस पर कमल की नाल खोदने के लिए बहुत-से हस अपनी चचल चोचे स्पष्टतया मार रहे हो। अपने को काली मानने वाली भ्रमरी भी किरणो के ससर्ग में ऐसी भासित होती है जैसे उसका रग धूम्र हो गया हो।'

बालरवि की किरणो के रंग और लाक्षा के गाढ़े रग मे सादृश्य स्पष्ट है। 'तिमिरस्तोम' और 'पंकप्रपंच' का पारस्परिक साम्य एक से अधिक अर्थों में समीचीन है। अधकार के समूह मे रक्तिम किरणें अनगिनत स्थलो पर प्रवेश कर रही है। यही दृश्य कवि-व्यजना का असली अभिप्रेत है। इस अपेक्षाकृत सूक्ष्म दृश्य के गोचरीकरण के लिए कवि ने एक स्थूल अप्रस्तुत की योजना की है—पंक समूह में कमल-नाल खोदने के लिए अनेक हसो का अपनी चोचे गडाना-धसाना। जिन लोगो ने हंसों की श्रेणियो को ऐसा करते देखा है, वे बालरवि की रश्मियो की इस सुषमा को मद्य हृदयगम कर लेंगे। काला रग तो पक्का माना जाता है जिस पर अन्य रग नही चढता। लेकिन, सूर्यकिरणो के प्रभाव से काली भ्रमरी की छवि में भी किंचित् रूपान्तर हो गया है-- "विराजति धूमलच्छविरिव।" काला रग धूमल छवि ग्रहण कर लिए है—यह सूक्ष्म परिवर्तन कवि की सूक्ष्म रंग-भावना पर आलोक डालता है।

उपर्युद्धृत श्लोक मे बालरवि की किरणो का सौंदर्य उन्मुक्त आकाश मे चित्रित किया गया है। राजकीय वैभव के बीच रहने वाले कवि के लिए आवश्यक था कि वह इन किरणो को वातायनो के भीतर प्रविष्ट होते हुए भी देखता है। प्रात कालीन रश्मियाँ मूग के रग की हैं। व सूर्य के 'कर' भी है जिनमे बहुत-से नख लगे मालूम होते हैं। वे लबी भी हैं। अतएव, वे ऐसी जान पड रही है मानो खिडकी में होकर आई हुई अभिराम लाल-लाल अगुलियाँ हो—

"बहुनखरता येषामग्रे खलु प्रतिभासते
कमलसुहृदस्तेऽमी भानो प्रवालरुच करा.।
उचितमुचित जालेष्वन्त.प्रवेशिभिरायतै·
किसलयवैरेखामालिंगिताङ्गुलिलाङ्गिमा ॥"

लाल अगुलियों और प्रवालरुचि वाली किरणो मे साम्य का दर्शन कल्पना की सुकुमारता का व्यजक है। लेकिन, कवि को दृष्टि कल्पना की रगीनी मे व्यस्त होकर अन्वीक्षण की सूक्ष्मता की अवहेलना नहीं करती। कमरे के भीतर खिडकी मे होकर प्रविष्ट करने वाली किरणो के बीच-बीच मे रज कणो का नृत्य भी चला करता है। कवि ने इस दृश्य का मनोरम चित्रण किया है। देखिए—

"नय नयनयोर्द्राक् पेयत्व प्रविष्टवतीरम्—
र्भवनवलभीजालाज्ञालो इवार्ककरागुली।
भ्रमदणुगणक्रान्ता भान्ति भ्रमन्त्य इवाशु या·
पुनरपि धृता कुन्दे किवा न वर्धकिना दिव.॥"

'हे राजन्! आप सबसे ऊपर के कमरे की खिडकी मे से प्रविष्ट हुई सूर्य की करागुलियो को देखिए जो भीतर आए हुए कमल के नाल के समान हैं। उन किरणो के बीच मे भ्रमण करते धूलि के कणो से व्याप्त होकर क्या व स्वर्गलोक के बढई अथवा शिल्पी के द्वारा फिर सान पर रखे जाने से शीघ्र भ्रमण करती नही प्रतीत होती है?

चित्र के उत्तरार्ध की सटीकता द्रष्टव्य है किरणो के जाल बीच में असंख्य धूलि-कण नाचते हैं। इस तथ्य की भावना करने के लिए कवि की प्रवीण लुहार अथवा शिल्पी के सान की खोज करती है। सान वाले प्रस्तरखड पर धार को अधिकता तीक्ष्ण और चमकीली बनाने के लिए कोई वस्तु रखी जाती है और पत्थर के जल्दी-जल्दी घूमने से वह भी घूमती दिखाई पड़ती है। रज कण तेजी से नाचते है और उनमे सयुक्त होकर सूर्य की किरणे भी नाचती प्रतीत होती हैं। सूर्य की करागुलियो को अधिक चमकीली, अधिक तन्वी या सुकुमार बनाने के लिए स्वर्गलोक के शिल्पी की ही आवश्यकता पड सकती है। कवि ने एक सूक्ष्म दृश्य को हृदयगम कराने के लिए धरती और स्वर्ग को मिला दिया है।

चारो दिशाओ मे व्याप्त अधकार-परम्परा को सूर्य की किरणे तत्क्षण नष्ट कर देती है, किन्तु वृक्षो के तले अधकार बना ही रहता है जो छायाजन्य होता है। कवि ने इस दृश्य के व्यजनार्थ एक सुन्दर उत्प्रेक्षा की है। रात को स्त्री-रूप मे कल्पित किया गया है जो सिर पर कबरीभार सँजोए हुए है। दिन दुर्ललित नायक है जो रजनी-बाला की वेणियो की समृद्धि को सहन नही कर सकता। अतएव, वह सूर्यकिरण-रूपतीक्ष्ण छुरो से उसकी केशराशि को काट देता है जिससे पृथिवी पर इतस्तत, वृक्षो की छाया के रूप मे, बालो के गुच्छे बिखर जाते हैं। (देखिए श्लोक म० ५५)। अन्यत्र आधा अस्त चन्द्रमा को शख काटने वाली आरी से उपमित किया गया है जो नितात सटीक है। सूर्योदय—सूर्य के रक्त बिब के प्रकट होने का एक संभ्रममय चित्र इन पक्तियो मे अकित हुआ है—

"उदयशिखरिप्रस्थावस्थायिनी खनिरक्षया
शिशुतरमहोमणिव्यानामहर्मणिमण्डली।
रजनिवृषब ध्वान्तश्यामा विधूय विधायिका
न खलु कतमेनेय जाने जनेन विमुद्रिता॥"

'न मालूम अधकार से काली रात की आच्छदक शिला को हटा कर, किरण-रूपमणियो की खान रविमडली को किसने अनावृत कर दिया!' यहाँ कवि छायावाद की मोहक छाया के भीतर प्रविष्ट करता-सा प्रतीत होता है। कल्पना की मोहकता भावक को झटिति आकृष्ट कर लेती है।

दिनोदय के काल मे जैसे नव-रश्मियो का महत्त्व है, वैसे ही धूमिल पडते तारो का भी। श्रीहर्ष ने आकाश को देवताओ का क्रीडागन माना है जिसमे उनकी सुरतकेलि के कारण हीरो से टूटकर गिरे हुए मोतियो का विलास तारो के रूप मे दृष्टिगोचर होता है। प्रात होते सूर्य रूपी फर्राश उन मोतियो को झाड़ देता है (श्लोक १३)। अन्यत्र कवि ने इन नक्षत्रो को देवताओ के सुरतसमर्द में हारो के बिखरे हुए कुसुमो से, तथा चन्द्रमा को अत्यत मृदु किरण-रूपी रुई के गालो से भरे हुए तकिए से उपमित किया है। कवि-कल्पना की सान्द्र, निबिड ऐन्द्रियता द्रष्टव्य है। अनायास यह आग्लकवि कीट्स का स्मरण हो जाता है।

हमने ऊपर कहा है कि कवि की रगभावना बडी जागरूक है। प्रात कालीन प्रभा में निमज्जित सरोवर की छवि को कवि ने देखा है। बालरवि की किरणे सरोवर को रक्तवर्ण बनाती हैं। कमल के मकरन्द के आस्वादन के लिए गिरती हुई भ्रमर-पक्ति इसे नीला बनाती है। खिलते हुए श्वेत कमलों की कलियो से इसका उदर-मंडल श्वेत दिखायी पडता है। इस प्रकार, सरोवर सचमुच अनेक रगो की दीप्ति से समन्वित हो गया है (श्लोक ३६)। भ्रमर-पक्ति पानी के ऊपर सूर्य की किरणो में भी कमल-परिमल के आनन्द से उठती हुई, मिल जाती है। ये किरणें कुकुम-कुसुमो की श्रेणी की लक्ष्मी का तिरस्कार करने वाली है। भ्रमर-पंक्ति के मिश्रण से ये आधी लाल और आधी काली गुजापुज की शोभा धारण करने की अभिलाषा करने लग गयी है—"गुजा-पुजश्रिय प्रहयालुभि।" आग्लकवि शेली की तरह श्रीहर्ष रगो की प्रखर एव सघन दीप्ति मे तो अनुराग रखते नही दिखाई पड रहे है, लेकिन रगो की लोभनीय माया के सूक्ष्म संकेत मे वे उससे कही बढे-चढे सिद्ध होते हैं।

श्रीहर्ष ने प्रभात-वर्णन मे अपने पाडित्यपूर्ण ज्ञान एव पौराणिक अनुराग का भी परिचय दिया है। किरणो को ऋचाओ से तुलित करना तथा उन्हे चारो वेदों की सहस्त्र शाखाओ की मूर्तियाँ बताना अधकार को वृहस्पति-सुत कच के रूप में चित्रित करना, काक और कोकिल की ध्वनियो मे पातजल महाभाष्य के नियमो की खोज कर लेना तथा कपोत के स्वाभाविक शब्द "घु" मे पाणिनीय व्याकरण की "घु" नामक सज्ञा की उपलब्धि—ये सब ऐसे उल्लेख हैं जिनसे कवि के पाडित्य-प्रदर्शन-विषयक मोह की विज्ञप्ति होती है। एक ही मस्तिष्क मे सरस कल्पना तथा विकट बुद्धि, दोनो का परिणय क्योकर सभव हो सका, यह सोच कर हम कुछ विस्मित-से हो जाते है।

'नैषधीय-चरित्र' के बाईसवें सर्ग मे श्रीहर्ष ने नल के मुख से सध्या का वर्णन कराया है। पश्चिम दिशा में रक्तवर्ण देख कर नल का चित्त अपनी प्रिया दमयती के अधर का स्मरण करने लगा—"कान्ताधरचुम्बिचेता"। सध्या की रक्तिमा और कान्ता के अधरोष्ठ की रक्तिमा मे नल को साम्य प्रतीत हुआ—अर्थात् पश्चिमीय क्षितिज पर विच्छुरित आलोक सघन लाल होते हुए भी मृदुल एव मधुर था। इसी से कवि कहता है—

"अक्षालि लाक्षापयसेव येयमपूरि पकैरिव कुकुमस्या।"

'सध्या महावर के रस से धुली हुई तथा कुकुम के रग से पूर्ण हुई-सी जान पडती है।'

एक उत्प्रेक्षा के सहारे कवि ने साध्य लालिमा की अपनी भावना को यो व्यंजित किया है—

"उच्चैस्तरादम्बरशैलमौलेश्च्युतो रविर्गैरिकगण्डशैल।
तस्यैव पातेन विचूर्णितस्य सन्ध्यारजोराजिरिहोज्जिहीते॥"

'सूर्य रूपी गेरु का गडशैल अतीव उन्नत आकाश-पर्वत के शिखर से च्युत हो गया। गिरने से उसके टुकडे-टुकड़े हो गए जिनमे उठी हुई धूल ही सन्ध्या का रग है जो सायंकाल चतुर्दिक् व्याप्त है।'

गैरिक-शैल के अम्बर की ऊँची चोटी से गिर कर विचूर्णित होने पर विच्छुरित रजोमाला की रक्तिमा का ध्यान किया जा सकता है। सध्या के समय जो लाली प्रतीच्य आकाश मे विकीर्ण हो जाती है, उसकी भावना कराने के लिए इस रजोरक्तिमा से अधिक उपयुक्त एव सटीक उपमान नही हो सकता। एक अन्य श्लोक मे पश्चिम दिशा के अकस्मात् अरुणीकृत होने की व्यजना के लिए उल्लसित कुक्कुटो की शिखाओ की उत्प्रेक्षा की गयी है। इन उल्लेखो से ज्ञात होता है कि कवि की रग-भावना अतीव सटीक एव व्यजक है।

सध्योत्तर आकाश मे दिखायी पडने वाले तारो का वर्णन चार-पाँच श्लोको मे हुआ है। इनमे किसी मनोरम कल्पना अथवा निरीक्षण का परिचय नही मिलता है। केवल एक चित्र मे कवि ने अवेक्षण एव कल्पना का अभिराम सामजस्य उपस्थित किया है। ब्रह्माड मे चतुर्दिक विच्छुरित तारो को काठ पर बने घुनो के छेदो से तुलित किया गया है तथा उनसे निकली किरणो मे घुनो के छेदो मे से निकली बुरादे की ढेर की कल्पना की गयी है—"स्वकान्तिरेणूत्करवान्तिमन्ति घुणव्रणद्वारनिभानि भानि।"

सूर्यास्त के समय फैलने वाले अधकार की व्यजना के लिए एक बडी सुन्दर कल्पना निम्नोद्धृत श्लोक मे की गयी है—

> "ऊर्ध्वार्पितन्युब्जकटाहकल्पे यद्व्योम्नि दीपेन दिनाधिपेन।
> न्यधायि तद्भ्रमिलद्गुरुत्वं भूमौ तम· कज्जलमस्खलत् किम्॥"

'दीपक सूर्य ने आकाश मे काजल पाड दिया है। आकाश एक बर्तन है जो नीचे मुह करके सूर्य के ऊपर रखा गया था। क्रमश अत्यधिक बढ़ने से भारी हुआ वह काजल ही क्या पृथिवी पर अधकार होकर गिर गया है?' काजल के पुज की कालिमा और अधकार मे साम्य स्पष्ट है। आकाश को उलटे मुह वाला बडा बर्तन बताना सटीक कल्पना है। दीपक की लौ पर कजरौटी उलट कर काजल पाडने की क्रिया से प्रत्येक कुटुम्बी गृहस्थ भलीभाँति परिचित है। प्रस्तुत चित्र इस बात का द्योतक है कि कवि ने उपमानो की खोज मे स्वतत्र एव सूक्ष्म अन्वीक्षण का उपयोग किया है। इस प्रसग मे हमे कालिदास के 'कुमारसभव' के एक समान चित्र का स्मरण हो आता है। गन्धमादन पर्वत पर सूर्यास्त के बाद फैलने वाले अधकार के वर्णन मे कालिदास ने तिमिरावृत ससार को गर्भ की झिल्ली में लिपटे हुए बालक से उपमित किया है। दोनो कवि-पुगवो की कल्पनाएँ सार्थक एव निराली है।

चन्द्रोदय तथा ज्योत्स्ना का वर्णन, नल और दमयती के मुख से, श्रीहर्ष ने लगभग तीन कोडी श्लोको मे बाईसवे सर्ग में कराया है। इनका एक पृथक परिणाम पौराणिक सकेतो या सन्दर्भों से आपूर्ण है। ये सकेत अवश्य ही भारतीय पाठको के लिए दुर्बोध नही है, लेकिन काव्य-दृष्टि से—अर्थात् चन्द्रोदय-सबधी हमारी भावना को अधिक स्पष्ट अथवा मोहक बनाने या अन्य काल्पनिक रमणीयता की ही सृष्टि करने की दृष्टि से—ऐसे स्थल श्लाघ्य नही समझे जायँगे। उदाहरण के लिए निम्नलिखित श्लोक देखिए—

"अंकेणनाभेर्विबकृष्यकण्ठः सुधाप्लताङ्ग- कटभस्मपाण्डुः।
अर्हत्यपीन्दोनिजमौलिबालाम्मृड कलामर्हति षोडशीं न ॥"

'महादेव चन्द्रमा की सोलहवी कला को अपने शिर पर रख कर उसका सम्मान करते हैं। चन्द्रमा कलंक के रूप मे मृगमद धारण करता है और अपने अमृत से पवित्र है। किन्तु, महादेव उसकी सोलहवीं कला के योग्य भी नही हैं, क्योकि उनका कंठ विष से नीला हो रहा है और वे श्मशान की भस्म से श्वेत है।' यहाँ कुछ पौराणिक सूचनाओं के अतिरिक्त अन्य भावात्मक उपलब्धि क्या हुई? यदि उत्तर मे यह कहा जाय कि चन्द्रमा की, शकर की अपेक्षा, श्रेष्ठता प्रतिपादित हुई है, तो भी यह जिज्ञासा बनी ही रह जाती है कि उससे चन्द्रमा या चाँदनी के प्रति हमारे आर्कषण में कौन-सी अनुभूयमान वृद्धि हुई है। निश्चय ही, ऐसे वर्णनो से भावक को तृप्ति नही मिलती।

तथापि, तीन-चार श्लोको मे कवि ने नवोदित चन्द्रमा के शुभ्र आलोक का मनोग्राही चित्रण किया है। निम्नोद्धृत पक्तियाँ देखें—

१ "आदत्त दीप्त मणिमम्बरस्य दत्वा यवंस्मं खलु सायधूर्त्तः।
रुच्यतुषारद्युतिकूटहेम तत्पाण्डु जात रजत क्षणेन ॥
२ बालेन नक्त समयेन मुक्त रौप्य लसद्विम्बमिवेन्दुबिम्बम्।
भ्रमिक्रमादुज्झितपट्टसूत्रनेत्रावृति मुञ्चति शोणिमानम् ॥"

(१) 'सायकाल रूपी धूर्त ने लाल चन्द्रमा के व्याज से नकली सोने का सिक्का आकाश को दे दिया तथा आकाश के दीप्तिमान् मणि सूर्य को ले लिया। वह झूठा सोने का सिक्का क्षण-मात्र मे ही चाँदी का श्वेत टुकडा बन गया। (२) चन्द्रबिम्ब माना चादी का मुन्दर लट्टू है जिसे रात्रि मे सायकाल-रूपी बालक नचाता है। क्रम से आकाश मे भ्रमण करने के कारण यह अपनी रक्तिमा इस प्रकार छोड देता है जैसे मिट्टी मे घूमने से ढीली हुई लाल सूत की डोरी लट्टू से पृथक् हो जाती है।'

सहृदय इन चित्रो की सचाई तथा मोहकता से अभिभावित हुए बिना नही रह सकता। प्लैटो का आरोप था कि कवि और कलाकार 'मिथ्या का व्यवसाय' करते हैं।[1] किन्तु, यह मिथ्या निरीक्षण पर आधृत होने से कविता किवा कला को एक दूसरी सृष्टि ही बना देती है जिसका प्रजापति स्वय कवि या कलाकार होता है। श्रीहर्ष ने प्रस्तुत प्रसगो मे निरीक्षण को कल्पना के लालित्य से मडित कर दिया है। चन्द्रमा की प्राथमिक किरणो से आकाश पहले लोहित हो जाता है और जब चन्द्रिका सम्यग्रूपेण बिच्छुरित हो जाती है, तब वह श्वेत छवि धारण कर लेता है—इस तथ्य की व्यजना के लिए चन्द्रमा की किरणो से पुताई होने के कारण पूर्वदिशा के अम्बर के लाल हो

---

१. देखिए, 'आलोचना', पूर्णांक १५, में लेखक का "अनुकृति, अन्विति और काव्यगत आनन्द" शीर्षक निबंध।

जाने ("चन्द्रांशुचूर्णव्यतिचुम्बितेन") तथा संसार के दूध के समान धवल हो जाने ("दुग्धमुग्ध-मुग्धम्") का उल्लेख हुआ है। निम्न पंक्तियों में रजनी-रूपी धोबिन के क्षीर-धारा की प्रभा वाली कौमुदी में, आकाश की नीलिमा के प्रक्षालन की कल्पना की गयी है—

"आभिर्मृगेन्द्रोदरि ! कौमुदीभिः क्षीरस्य धाराभिरिव क्षणेन।
अक्षालि नीली रुचिरम्बरस्था तमोमयीयं रजनीरजक्या॥"

अभी-अभी हमने कवि की पुराणप्रियता का उल्लेख किया है। हमारे कथन का यह अर्थ नहीं है कि पौराणिक संकेतों के सूत्रों पर कविता के मोती पिरोये नहीं जा सकते। कवि की संवित् जब भाव-रस से स्निग्ध रहेगी, तब पौराणिक कला, शुष्क दार्शनिक, तथ्यों के आश्रय से कविता-कामिनी का रूप सँवारा जा सकता है। श्रीहर्ष के ही निम्नोल्लिखित श्लोकों को देखिए जिनमें पुराणकथा केवल सूचनात्मक न होकर, काव्यसुलभ चेतना के रसायन में लिप्त हो गई है—

१ "शुचिरुचिमुडुगणमगणनममुमति—
कलयसि कृशतनु ! न गगनतटमनु।
प्रतिनिशशशितलविगलदमृतभृत—
रविरथहयचयखुरबिलकुलमिव॥

× × ×

२ स्वर्भानुप्रतिवारपारणमिलद्दन्तौघयंत्रोद्भव—
श्वभ्रालीपतयालुवीधितिसुधासारस्तुषारद्युतिः।
पुष्पेष्वासनतातिप्रियापरिणयानन्दाभिषेकोत्सवे
देवः प्राप्तसहस्रधारकलशश्रीरस्तु नस्तुष्टये॥"

प्रथम श्लोक में श्वेत तारों को सूर्य के रथ के घोड़ों के खुरों के चिह्न बताया गया है जो चन्द्रमा से निकलते अमृत से भर गए हैं। द्वितीय में यह कल्पना की गई है कि कामदेव तथा रति के विवाह-संबंध उत्सव में सहस्र छिद्रों से समन्वित कलश के समान दिखाई पड़ने वाला चन्द्रमा किरण-रूपी अमृत बरसाता है और वह अमृत, प्रति बार जब राहु चन्द्रमा को ग्रसने आता है, तब उसकी दंष्ट्रा से किए गए छेदों से बाहर निकलता है। काव्य-रसिकों को इन श्लोकों में आए पौराणिक उल्लेखों से कोई विरुचि नहीं होगी।

'नैषधीय-चरित' के चतुर्थ सर्ग में दमयन्ती ने जो प्रसिद्ध उपालम्भ चन्द्रमा को दिए हैं, उनमें कवि का अभीष्ट वियोगजन्य मनोव्यथा का निरूपण करना रहा है, न कि प्रकृति की एक सत्ता-विशेष के रूप में चन्द्रचित्रण। अतएव, कवि के प्रकृति-वर्णन की समीक्षा करते समय उन उपालम्भों को जानबूझ कर छोड़ दिया गया है।

प्रकृति के अनुरागियों को प्राकृतिक सुषमाओं का बहुरंगी चित्रपट अवश्य 'नैषधीय चरित' में नहीं मिलेगा। जैसा पहले ही कहा गया है, श्रीहर्ष प्रेमाख्यानपूर्ण प्रबंध-काव्य की सृष्टि कर रहे थे। काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में प्रबन्ध-काव्य के लिए प्रकृतिवर्णन आवश्यक बताया गया है।

अतएव, श्रीहर्ष ने उपवन, सरोवर, प्रात काल, सन्ध्या तथा चन्द्रिका का उपयुक्त प्रसंगो में सीमित चित्रण किया है। उन्होने 'खण्डनखडखाद्य' नामक अद्वैतसिद्धान्त-प्रतिपादक वेदान्तग्रंथ की भी रचना की है तथा अपने को "जितेन्द्रिय" कहा है। वे अपनी प्रबन्धकृति के आस्वादन के लिए पडितो का आह्वान करते हैं और अ-रसिको की चिन्ता से अपने को निरपेक्ष बताते हैं। उनकी निम्न गर्वोक्ति पाठक को सचमुच भयभीत कर देती है—

"जो अपने को पडित मानता है, वह खल हठपूर्वक, इस रचना के साथ खिलवाड न करे—यह सोच कर मैंने कही-कही प्रयत्न करके इसके निबन्धन मे गाँठे लगा दी है। श्रद्धा से पूजित गुरु की सहायता से जिसने दृढ ग्रन्थियो को शिथिल किया है, वही सज्जन इस काव्य की अमृत-लहरी मज्जन का सुख प्राप्त करेगा।"

आत्मनिग्रही, उद्भट विद्वान् तथा जानबूझ कर सायास ग्रन्थियाँ निबन्ध करने वाले कवि से, जिसने सामान्य पाठको के लिए सारस्वत-मार्ग नही अपनाया, प्रकृति के उन्मुक्त, स्वच्छन्द चित्रण की आशा नही करनी चाहिए। तथापि, जिन चित्रो में कवि की चेतना पाडित्यपूर्ण या पौराणिक पाशो से मुक्त हो कर स्वतत्र अन्वीक्षा एव भाव की ऊष्मा से लिप्त हो गई है, वे 'काव्य-कामियो' के चित्रो का ही नही, अपितु 'काव्य-कुमारो' के अन्त करणो को भी आकृष्ट करेंगे, भले कवि स्वय भिन्न धारणा रखता हो—

"यथा यूनस्तद्वत् परमरमणीयामपि रमणी
कुमाराणामन्त.करणहरण नैव कुरुते।
मदुक्तिश्चेदन्तर्मदयति सुधीभूय सुधिय
किमस्या नाम स्यादरसपुरुषानादरभरं ॥"

श्री रामनारायण उपाध्याय

निमाड़ अंचल के प्राचीन संत कवि

निमाड अचल का काव्य अपने साथ मुख्यत अध्यात्म और दर्शन की पृष्ठभूमि लिये हुए है। इसके पीछे चार सौ वर्षों की सुदीर्घ परम्परा रही है प्रकृति की गोद मे यह पला, नदियो के किनारे इसने विकास पाया, और लोक-जीवन को सुसस्कृत बनाने मे इसने अपना योगदान दिया है।

इसे सोलहवी शताब्दी मे, कबीर के समकालीन सत ब्रह्मगीर-मनरगीर सिंगा, खेमदास, दलूदास, और रकदास जैसे पहुँचे हुए सत-कवियो की वाणी से मुखरित होने का गौरव प्राप्त है। यही वजह है कि जिससे आज भी, यहा के काव्य ही नही, जीवन तक पर, दर्शन और अध्यात्म की अमिट छाप अकित है।

नर्मदा उपत्यका के अमर गायक सत सिंगा के गुरुमह ब्रह्मगीर को यदि निमाड का आद्य-कवि कहे, तो भी अत्युक्ति नही। आपका काल सम्वत् १४५५-१५७५ माना जाता है। यही कबीर का भी काल रहा है। यद्यपि आपकी लिखित रचनाओ की सख्या अधिक नही है, लेकिन गीत की जिन दो पंक्तियो ने सिगा के जीवन मे आमूल परिवर्तन कर दिया, और एक जमाने के साधारण-से गौली को युग-युगात का महान सत बना दिया, वे आपके ही द्वारा लिखी होने से समूचे काव्य-जगत मे सदैव चिर-स्मरणीय रहेंगी। बात यह थी कि सिंगाजी एक रुपये माहवार पर भामगढ के राव साहब के यहा डाक लाने और ले जाने के काम पर नौकरी करते थे। लेकिन जिसके जीवन मे प्रभु के सदेश-वाहक होने का वरदान छिपा हो, वह भला व्यक्तिविशेष की डाक का काम कब तक करता ! सो, एक दिन जब आप हरसूद से भामगढ एक घोडे पर डाक ले जा रहे थे, तभी आपके कानो मे मनरगीर स्वामी द्वारा गाये जाने वाले, ब्रह्मगीर के ये शब्द पडे—

"समझी लेवो रे मना भाई,
अत नी होय कोई आपणो।"

इन शब्दो ने आपके जीवन मे जादू का-सा असर किया, और उन्होने तत्काल अपने घोड की रास खीची। रास क्या खीची, कि अपनी समस्त इन्द्रियो को आत्मा के वश मे कर, जगत्

की ओर से मोड़, ब्रह्म की ओर लगा दिया। कहते है, उसीके बाद, आपने अपने ग्यारह सौ अध्यात्मिक भजनों का निर्माण किया था।

ब्रह्मगीर के बाद मनरगीर स्वामी का स्थान प्रमुख है। आप सिगा के गुरु थ, और आपने भी मुख्यत अध्यात्म के रग से रगकर अपनी रचनाओ की सृष्टि की। आपके द्वारा लिखित एक लोरी समूचे निमाड मे प्रसिद्ध रही है। यह लोरी क्या है, इसमें आपके विराट स्निग्ध कवि-हृदय का दर्शन किया जा सकता है।

कहते है, एक बार आप सुक्ता नदी के तट पर ध्यानस्थ बैठे थे। इतने मे, उधर से एक बच्चे का शव बहते हुए निकला। शव को देखते ही आपने उसे गोदी मे उठा लिया, और अत्यन्त स्नेह से उसे थपकिया देकर निम्न-लिखित लोरी सुनाने लगे। जिस समय सत की गोद में बच्चे का शव झूल रहा था, उस समय ऐसे लगता था मानो शून्य मे झूला बाध कर त्रिगुण की डोर से, अत्यन्त ही जतन से मनरगीर स्वामी उसे खीच रहे थे। वे कह रहे थे, सप्त धातु का यह पिजरा बना है, जिसमे ३६० पट्टे डले है, सिर्फ एक कडी जडाव की है जिस पर यह सारा ठाठ रचा है। हे बच्चे! तू न तो सोता है, न जागता है। तू तो बिन-व्याही का पूत है। लेकिन सोहं-पुरुष जिसके सग मे है, वह बाझ का बच्चा भी हिडोले झूल रहा है। अनहद का नाद हो रहा है, और अजपा का जप चल रहा है। कहते हैं, ऐसी स्थिति मे, उपरोक्त लोरी के बाद, जिस तरह तालाब में "अष्ट-कमल-दल" खिलता है, वैसे ही बच्चे के शरीर मे नये प्राणो का सचार हो उठा था। वह लोरी यो है—

सोहं बाफ हालरो, नित निरमफो।
निरमफ थारी जोत, सोह बाफा हालरो ॥१॥
नदी सुक्ता का घाट पर, बाबा घाट पर, बैठ्या ध्यान लगाय
आवत देख्यो पींजरो, बाबा पींजरो, लियो गोद उठाय ॥२॥
सप्त धातु को पींजरो, बाबा पींजरो, पाट्या तीन सौ साठ
एक कडी हो जड़ाव की, बाबा जड़ाव की, बा पर रचियो ठाठ ॥३॥
आकाश झूलो बांधियो, बाबा बांधियो, लाग्या निरगुण डोर,
जुगत से झुलो झुलाविया, बाबा झुलाविया, हींबजमनरंग मोर ॥४॥
नहीं रे बाफा तू सोवतो, नहीं जागतो, बिन-ब्याही को पूत,
सदा हो "शिव" जाकी सग में, जाकी सग में, झूलप्रबांझ को पूत ॥५॥
अनहद घुंघरू बाजिया, बाफा बाजिया, अजपा को मेह,
अष्ट कमल दल खिली रह्या, बाबा खिली रह्या, जैसा सरवर मेव ॥६॥

संत सिगा को यदि निमाड काव्य-जगत का पूर्ण-चन्द्र कहे, तो भी अत्युक्ति नही। शरद की रस-भीनी निर्मल चादनी की तरह आपकी रचनाए यहा के सम्पूर्ण मन-प्राण को आच्छादित किये हैं। आपको यहा के काव्य ही नही, सस्कृति के भी निर्माण का श्रेय रहा है। आप निमाड़

के किसी भी गाव मे चले जाइये, वहा आप सूर और तुलसी के पदो की तरह सिंगा के पद प्रचलित पायेंगे। जब भी किसी का मन अपने आप मे नही समाता, या एकात से घिर जाता है, तो वह सिंगा के ही शब्दो मे सान्त्वना पाता आया है।

जिस तरह निषाद के बाण से बिधे क्रौंच को देखकर बाल्मीकि के मुह से अनायास ही आदि काव्य के स्वर फूट निकले थे, उसी तरह शरीर की नश्वरता के सम्बन्ध में ब्रह्मगीर के शब्दों से बिधकर सिंगा के मुह से भी काव्य की अमृत-वाणी झर निकली थी, और आपने ग्यारह सौ अध्यात्मिक भजनो का निर्माण किया था। आपकी रचनाए कबीर की निर्गुण-धारा, रहस्यवाद, और फक्कडपन लिये हुए है। अपने एक भजन में, अव्यक्त ब्रह्म का निरूपण करते हुए, आपने लिखा है—

निर्गुण ब्रह्म है न्यारा। कोई समझो समझ महार॥
त्रिकुटी महल में अनहद बाजे। होत शब्द झणकार॥
सुकमणी सेज शून्य में झूले। जो सोहं पुरुष हमार॥

अपने पथ के बारे मे आपने लिखा है, हम तो उस परब्रह्म की राह के पथिक है, जिनका स्थान बहुत दूर है, निराधार मे जिन्होने मठ किया है, जहा चाद और सूरज भी नही है।

गीत की पक्ति है—

हम पथी परिब्रह्म का, अपरंपद दूर,
निराधार जहं मठ किया, जहं चंदा ना सूर।

आग चल कर आप कहते है, वहा चाद और सूरज कुछ भी नही दीखते, फिर भी करोडो सूर्य की तरह उजेला है—

चांद सूरज वहां कछू नहीं दीखे, कोटी भानु उजियारा।
जिनका नयन शून्य म लागा, तव परवारा सारा।

लेकिन अपने इस प्रभु की राह मे तो विनम्र होकर ही प्रवेश पाया जा सकता है अतएव वे कहते है—

राह हमारी बारीक है, हाथी नहीं समाय,
सिंगाजी चिउटी हुई रहघा, नित आवत न् नित जाय।

आपकी कुछ रहस्यवादी पक्तिया भी सुनिये—

फल नजदीक नजर नहीं आये, सतगुरु बिन कौन बताये।
बिना पीड़ को बिरछा कहिये, अगाफ नवि नवि जाये।
बिना पंख को हंसा कहिये, अकाश उड़ी उड़ी जावे,
बिना पाक को सरवर कहिये, लहर उलट कर आवे।
सद्गुरु बिन कौन बतावे॥

सिंगा ने किसी ऐसे अज्ञात, अव्यक्त ब्रह्म की उपासना नही की जो जन-साधारण की पहुंच और पकड़ से दूर हो। वरन् उन्होने तो, गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर की तरह, उस कर्मरत पुरुष मे अपने प्रभु के दर्शन किये जो कही खेतो में हल चला रहा, तो कही पथों मे गिट्टी तोड रहा है। वे लोक-जीवन मे कुछ इस कदर तदाकार थे कि उन्होने किसान के रोज-ब-रोज के जीवन से सम्बन्धित खेती के माध्यम से ही हरिनाम की खेती करने का सदेश दिया। आपकी यह रचना समूचे काव्य-जगत को आपकी अनूठी देन है। उसके शब्द हैं—

खेती खेडो रे हरिनाम की, जा म अ मुक्तो लाभ
पाप का 'पालवा" कटावजो, काटी बाहर "राफ़"
कर्म की कासी एखावजो, खेती चोखी थाय,
"बास" "श्वास" दो बैल है, "सूर्ति" रास लगाव,
प्रेम-पिराणो कर धरो, "ज्ञान" आर लगाव,
ओहं बक्खर जूपजो, सोहं सरतो चलाव,
"मूल मंत्र" बीज बोवजो, खेती लट लूम थाय,
"सत" को माडो रोपजो, "धरम" पैडि लगाय,
"ज्ञान" का गोफ़ा चलावजो, सूआ उड़ी उड़ी जाय।
"दया" की दावण राफ़ जो, बहुरी फेरा नहीं होय,
कहे सिंगो पहिचाण लेवो, आवागमन नहीं होय।

अपने इस सत-कवि पर यहा की जनता की कुछ ऐसी असीम श्रद्धा रही है, कि आपकी पुण्य-तिथि पर, आपकी समाधि पर, निमाड का सबसे बडा मेला लगता है, और उसके पास जो गाव बसा है, वह सत के ही नाम पर "सिंगाजी" के नाम से प्रसिद्ध है।

आज भी खण्डवा से इटारसी की राह जब गाडी सिगाजी स्टेशन से गुजरती है, तो अनेको किसानो के मन अनायास ही गीत के स्वर गुनगुना उठते है—

म्हारा सिर पर सिंगा जबरा,
गुरु म सदा करत हूं मुजरा॥

मेरे सिर पर सिंग का वरद् हस्त है, और मै उसे बार बार प्रणाम करता हूँ।

आपका काल सम्वत् १५७६–१६४८ माना जाता है।

खेमादास, सिंगा के अनन्य भक्त थे। आपके द्वारा लिखित सिंगा की परचरी, सिंगा के जीवन पर एकमात्र प्रामाणिक ग्रथ है। यह छदबद्ध औधी मे लिखा गया है। इसके कुछ पद ये है—

सिंगाजी नाम, जात की गवळो,
बजावे पावा मुहर बंशली।
गावअ् गीत, घुमावअ् देव,
हरी भजन को न जाने भेव।
रहे उदमत, करे चाकरी,
और नहीं जाणे बात दूसरी।
गौउ बछेरू महेकी अपार,
माता पिता कुटुम्ब परिवार।

आइये, अब मैं आपको निमाड-अंचल के विनम्र साधक दलुदास से परिचित करा दूं। आप सिंगा के भक्त ही नहीं, उनके पौत्र भी थे, और उन्हें भगवान की तरह मानते थे। आपका जीवन क्या था, मानो सिंगा के प्रति समर्पित एक विनम्र श्रद्धांजलि। आपने उन्हींकी साधना उपासना में अनेकों सुन्दर गीतों की रचना की थी। आपने अपने एक गीत में अपने प्रभु से अपने लिये कितने सादगीपूर्ण जीवन की मांग की है। गीत क्या है, मानो इसमें आपने अपनी आत्मा उतार कर रख दी है। गीत के बोल हैं —

सिंगा स्वामी अरजी सुणजो, कोई का दागदार मत कीजो
नर नारायण देह दीनी है, गुरु म्हारी पल पल खबरा लीजो,
कोई का दागदार मत कीजो।
तीन पाव या तन ख अबीजो, गुरु मख ज अपणो करी कर रखजो,
भरी सभा म अमाख राखजो, गुरु मखअ् तन् भरी वस्तर दीजो,
कोई का दागदार मत कीजो।
सुमरण भजन आरती पूजा, गुरु मुख ज भक्ति खेती दीजो,
कहे जन दलु सुनो भाई साधू, म्हारी असी सदा निभावजो,
कोई का दागदार मत कीजो।

अपनी एक दूसरी रचना में, अपने निरालम्ब एकाकी जीवन का वर्णन करते हुए आपने लिखा है —

दया करो म्हारा नाथ, हऊ तो गरीब जन एगलो।
अठारी भार, बनस्पति, फूले डाफ म ज डाफ,
वाही मं ज चन्दन एकलो, जाको निरमल वास।
कई लख तार झर-मझे, गगन अस्मान बीच,
वाही मं ज चन्द्रा एकलो, जाकी निर्मल जोत।
अन हो चुगता चुगी रहया, पंछी पख पसार,
वाही मं हंसा एकलो, मोती चुग चुग खाय।

जन हो दल् की बीणती, साहब सुणी लीजो,
मिलओ ते परदा खोल के, आपणो क लीजो,
हऊ तो गरीब जन एकलो।

—"हे मेरे प्रभु, मुझ पर दया रखना. मै तो गरीबजन अत्यन्त अकेला हूँ। जिस तरह डालियो में झूलती अठारहो भार बनस्पति मे चन्दन अकेला है जिसकी परमल सुगन्ध है, जिस तरह आकाश मे चमकते लाखो ताराओ मे चाद अकेला है जिसकी निरमल जोत है, जिस तरह धरती पर अपने पख फैलाकर अन्न चुग रहे अनेको पक्षियो मे हस अकेला है जो मोती ही चुग कर खाता है, उसी तरह हे प्रभु ! इस लाखो आदमियो स भरी दुनिया मे मै तो गरीब जन अत्यन्त अकेला हूँ। हे मेरे प्रभु, अपने दास की बिनती सुन लेना। मिलना तो परदा खोलकर मिलना, और अपना बना लेना। मै तो गरीब जन अत्यन्त अकेला हूँ।"

निमाड अचल के काव्य को नवीन शैली प्रदान करने और नवीन उपमाओ एव कल्पनाओ से सवारने के नाते घनजीदास का नाम सदैव स्मरणीय रहगा। आप जाति क नाई थे और गो-गावा के समीपस्थ एक गाव मे आपका जन्म हुआ था। वेदा नदी के किनारे आज भी आपकी समाधि बनी हुई है।

यो तो आपके लिखे "अभिमन्यु-ब्याह", "लीलावती", "सुभद्रा" ब्याह", आदि प्रसिद्ध रचनाएँ हैं, लेकिन इन सबसे अधिक प्रसिद्धा आपकी "मोतीलीला" है। यह १७५ पदो मे सम्पूर्ण एक काव्य है। भाव, भाषा उपमा और अलकार की दृष्टि से यह एक अनूठी कृति है। इसमे आपने एक धार्मिक कथा के आधार पर, अत्यन्त ही मौलिक एव नवीन ढग से, रूठी हुई राधिका को मनाने के लिय मोतियो के व्यापारी के रूप मे श्रीकृष्ण का वर्णन किया है।

निमाड अचल के काव्य की चर्चा करते हुए अब हम १९वी सदी मे प्रवेश कर रहे है। रकदास १९वी सदी क लोकप्रिय कवि हो गय। सिगा की निर्गुण धारा के बाद, निमाड मे सगुण काव्य-धारा को प्रवाहित करने का श्रेय आपको है। आप हरदा तहसील के नजरपुरा ग्राम के निवासी गगागीर के शिष्य और कृष्ण के उपासक थे। आपका कालसम्वत् १८४८—१९३२ रहा है। आपने अपनी रचनाओ मे "माया" "ममता" और "तृष्णा" आदि का बडा ही सुन्दर बिवचन किया है। देखिये अपनी एक रचना मे तृष्णा को दो मुह का साप बताते हुए आपने लिखा है —

तृष्णा दुई मुंडा की सांडई, तृष्णा दुई मुंडा की सांडई।
सब ख गिफई जाय सांडई, तृष्णा दुई मुडा की सांडई॥
निकल असी अबर लई पटक अ, पटक अ माथ्थया माथ्थई,
पकड तेल छोड़ अ नहीं रे, असी बुरी छे सांडई॥ तृष्णा दुई०
राजा गिलि या परजा गिलि या गिलिया पाडव पन्दई
ऋषी मुनी, बा सबख गिफई न्, रही अकेली सांडई॥ तृष्णा दुई०

एक निवा सी सब लाग वेल, लिखि लिया मांडया मांडई,
लिखो करी न् सब ल चपेटया, एक नी वियो छाडई ॥ तृष्णा बुई०
एक कहे तुम अधम उद्धारण, तेका आगृ रांडई,
सूरो तो ऊ सब ल् अमार, बुई धारा की लांडई ॥ तृष्णा बुई०
तृष्णा बुई मुंडा की लांडई ॥

इस तरह निमाड अचल का काव्य अपने मे कबीर की निर्गुणधारा और सूर और तुलसी की सगुण धारा को सहेजे, पिछली चार शताब्दियो मे निरतर प्रवाहमान रहा है।

श्री अगरचन्द नाहटा

पद्मावत की एक अप्राप्त लोक कथा—सपनावती

प्रेमाख्यानों की परपरा बहुत प्राचीन है। हिंदी के विद्वानों का प्राकृतादि भाषाओं की प्रेम-कथाओं का अध्ययन न होने के कारण व सूफी प्रेमाख्यानों की ही अधिकतर चर्चा करते रहते हैं। इससे पूर्ववर्ती प्रेम-कथाओं की ओर अभी तक उनका ध्यान कम ही गया प्रतीत होता है। सूफी कवियों ने भी जिन मृगावती, मधुमालती, पद्मावत आदि ग्रन्थ बनाये हैं वे भारतीय लोक-कथाओं को लेकर ही बनाये गये हैं। उनके कहने का ढग कवियों का अपना हो सकता है।

मलिक मुहम्मद जायसी ने अपने से पूर्ववर्ती कई प्रेम कथाओं का उल्लेख अपने पद्मावत में किया है, जिनमें "सपनावती" भी एक है। अभी तक इस की कथा को जानने का कोई साधन प्राप्त नही था। बहुत समय से मैं इसकी खोज करता आ रहा हूँ। 'आजकल' के लोक कथा के लिये "गुजरात में लोक कथाओं सबधी कार्य" पर गवेषणा करते हुये गुजरात वर्नाक्युलर सोसाइटी द्वारा प्रकाशित "गुजरात तथा काठियावाड देशकी वार्ता" भाग दो को देखते ही उसमे सपनावती की वार्ता भी सग्रहीत देखकर बडी प्रसन्नता हुई। यह वार्ता सन् १८७२ मे एक पारसी द्वारा बहुत स्थानो में घूमकर सग्रह की हुई वार्ताओं में से है। अर्थात् ८२ वर्ष पूर्व लोक मुखसे सुनकर लिखी गयी है। पाठको को उसका परिचय कराना आवश्यक समझ यहा उक्त वार्ता का सार दे दिया जाता है। सपनावती का कथा-सूत्र जायसी के अनुसार विक्रम से सबधित था। तब गुजराती सस्करण में वह भोज से सबधित है। लोक कथाओं मे ऐसा विषयविपर्यय होता ही रहता है। विक्रम और भोज के नाम तो लोक कथाओ मे बहुत प्रसिद्ध है। अत किसी ने उसे विक्रम की रानी बनाया है तो किसी ने भोज की रानी के रूप मे उसे प्रसिद्ध कर दिया है। जायसी के पहले के रचित ग्रथो में भी यह कथा अवश्य ही मिलेगी खोज चालू है ही पर जहा तक वह नही मिलती, इस वार्ता से ही इस कथा वस्तु का परिचय पाकर सतोष करना पडता है।

जायसी ने अन्य प्रेम कथाओं मे मुग्धावती, खडरावती और प्रेमावती का उल्लेख किया पर वे प्राप्त नही है। उनकी खोज भी की जानी चाहिए। उनकी मूल कथा तो अवश्य ही

---

१ विक्रम धसा प्रेम के वारा, सपनावती कह गए पवारा॥

कहीं मिल जाना चाहिये जैन विद्वानो ने सैकड़ो लोक-कथाओ को अपने कथा सग्रह व स्वतत्र कथा ग्रंथो में संग्रहीत किया है पर अभी उनका अध्ययन ही नही हो पाया। राजस्थानी एवं गुजराती भाषा में भी सैकडो लोक-कथाएँ मिलती हैं। प्राप्त सामग्री की छानबीन से अनेको नवीन तथ्य प्रकाश मे आयेगे।

भारतीय लोक कथा बडी लोक प्रिय रही है। उनका प्रचार विदेशो तक मे हुआ है अत विश्व एकता के लिये भी इनकी शोध महत्वपूर्ण सिद्ध होगी।

'सपनावती' की लोक वार्ता

धारा नगरी का राजा भोज एक रात मीठी नीद ले रहा था। उसने एक सपना देखा। राजा को सपने मे मालूम हुआ कि सात समुद्रो के बीच एक द्वीप है, द्वीप मे एक सुन्दर महल है। महल के दरवाजे पर माणिक्य के वृक्ष हैं और आसपास अमर छत्र तने हुये हैं। राजाको ऐसा मालूम हुआ कि वह इस सुन्दर महल मे सुन्दरी सपनावती के साथ सोया हुआ उससे प्रेमालाप कर रहा है। मधुर मलय के झोके हृदय को प्रसन्न कर रहे हैं तथा पुष्पो की भीनी सुगन्ध चारो और गमक रही है। इतने मे राजा भोज की नीद उड गई और सारी बात हवा हो गई।

सपनावती के सौदर्य को देखकर राजा भोज अधीर हो गया और मन ही मन प्रतिज्ञा कर बैठा कि जब तक सुन्दरी सपनावती से विवाह न हो तब तक न अन्न और न पानी। राजा भोज रूठकर घुडसाल के एक कोने मे जा बैठा। जब एक भगी की छोकरी घुडसाल को साफ करने के लिये झाड लेकर गई तो उसे राजा को इस प्रकार कोने में रूठे हुये देखकर बहुत आश्चर्य हुआ। उस लडकी ने सारा हाल राजा भोज के दोनो लडको मोर और गोर को कह सुनाया। दोनो राज-कुमार राजा भोज की इस दयनीय स्थिति को देखकर बहुत दु खी हुए। राजा भोज ने रात को स्वप्न मे दीखने वाली सपनावती तथा दीप के सुन्दर महल की सारी बात कह सुनाई। राजा भोज ने कहा—मै वृद्ध हो गया हूँ, तुम दोनो युवक हो, अत तुम किसी भी कीमत पर सपनावती का पता लगाकर उसका मेरे साथ विवाह करवा दो। यदि तुम ऐसा नही कर सकते हो, तो मै यही बैठा-बैठा प्राण दे दूगा।

राजकुमार किसी प्रकार मनाकर राजा को महल मे ले आये और समझाने लगे। बडे भाई मोर ने राजा से कहा—महाराज! अब आप बृद्ध हो गए हैं इस वय मे विवाह उचित नही। लोग सुनेगे तो हसेगे, पर राजा भोज ने कहा यदि तुम्हे मुझसे काम होतो 'सपनावती को ढूढकर लादो, तभी' अमलपानी' करूगा।

राजकुमार मोर एक घोडे पर सवार होकर सपनावती की खोज मे निकला। चलते चलते एक धूर्तों की नगरी में आ पहुँचा। मोर थक गया था, अत उसने वही सुस्ताने की सोची। नगर के रास्ते पर दो स्त्रिया आमने-सामने बैठी थीं, इन्होंने जब एक सुन्दर घुडसवार को देखा तो वे बहुत प्रसन्न हुई और सोचा आज का शिकार अच्छा रहेगा। दोनो स्त्रियो ने सवार को देख

कर कहा—"परदेशी ! ठहरो, कहा जा रहे हो, हम तुम्हारी दोनो स्त्रिया न जाने कबसे बाट जोह रही है।"

"मै अविवाहित हूँ, सुदरी! फिर मेरी स्त्रिया कैसी!" यो कहकर सवार लापरवाही से आगे चलने को उद्यत हुआ! लकिन दोनो स्त्रियो ने घुडसवार को घेर लिया और कहने लगी, 'प्रिय! तुम्ही हमारे पति हो! हमारा विवाह बचपन मे हुआ था।' मोर इन दोनो धूर्त स्त्रियो के प्रेम-पाश मे फस गया, वही रुक गया। मोर धीरे धीरे अपना सारा धन गवा बैठा। तब उन दोनो धूर्ताओ ने एक दिन मोर के कपड़े छीन कर लगोटी पहना कर बाहर निकाल दिया।

बेचारा राजकुमार मोर दर दर ठोकर खाता फिरने लगा। नौकरी की तलाश मे भटकता रहा। एक दिन एक तेली ने रहम कर मोर को अपने कोल्हू मे बैल की जगह जोत दिया। तबसे मोर दिन भर कोल्हू चलाता और रात को खा पीकर आराम करता।

इधर राजा भोज सपनावती की याद में घुल-घुल कर दुबला हो गया। सपनावती के बिना एक-एक पल एक-एक युग के बराबर बीतता था। भोज की यह दशा देखकर उसका छोटा लडका गोर—घर से घोडे पर सवार होकर सपनावती की खोज मे निकल पडा।

गोर भी चलते २ धूर्तों की नगरी मे पहुँचा। रास्ते मे एक साहूकार मिला। वह उस सवार को देखकर रोने लगा। गोर ने पूछा—"तुम किस लिये रो रहे हो?" साहूकार कहने लगा—"मैं अपने लिये नही तुम्हारे लिये रो रहा हूँ, पथिक! तुम कितने सुन्दर हो, पर मेरी आखे तुम्हारे दुर्दशा-ग्रस्त निकट भविष्य को साफ-साफ देख रही है। गोर साहूकार की बाते सुनकर सचेत हो गया और उसने मन मे निश्चय किया मै धूर्तों की नगरी मे से होकर जाऊँगा जिससे धूर्त नगरी की धूर्तता हमेशा के लिये खत्म हो जाय। गोर को अपनी वीरता और बुद्धिमत्ता से बढ-कर अपने चरित्र पर पूरा विश्वास था। रास्ते मे वही दो धूर्त स्त्रिया मिली उन्होने गोर को अपने फंदे मे फसाना चाहा, लेकिन गोर सावधान था, उसने अपनी तलवार निकाल कर उनके दो टुकडे कर दिये और उसका घोडा फिर वायुवेग से बढ चला।

चलते-चलते गोर एक राक्षस की नगरी मे जा पहुँचा। सारी बस्ती उजाड पडी थी, राक्षस बाहर भोजन की तालाश मे गया हुआ था। राक्षस की लडकी फूलादे ने झरोखे मे से देखा कि शहर के दरवाजे मे एक आदमी घुसा है। वह दौडी दौडी उसके पास आई और रोती हुई कहने लगी—ओ तरुण! तुम यहाँ किधर से राह भटक गये? यहा किसी मनुष्य का नाम नही। मेरा पिता यदि आ पहुँचा तो तुम्हारे टुकडे टुकडे बिखर देगा। यो कहकर फूलादे प्यासी आखो से उस घुडसवार के रूप को पीने लगी।

"अच्छा, जब तुम आही गए हो, मै तुम्हे अवश्य बचाऊँगी। तुम महल के तहखाने मे घुस रहो। देखो आवाज न करना। इतने मे गोर को जोर जोर से आवाज सुनाई दी, कि वह बोल उठा—सुन्दरी! यह भयकर कर्णभेदी आवाज कैसी? 'आवाज! मेरा बाप कूदता फादता आ रहा है, जिसकी धमक से पहाड के पहाड लुढक रहे है। बडा भयकर है मेरा बाप! यो कहकर फूलादे ने चुप रहने का इशारा करते हुये घुडसवार को तहखाने का रास्ता दिखा दिया। इतने

में राक्षस आ पहुँचा "फू फा-सू सा" कही मनुष्य की गन्ध है ।" राक्षस चिल्लाया ! फूलादे ने कहा मैं ही एक बच्ची हूँ, मुझे और खा जाओ तो तुम्हारा दिल खुश हो यहा मनुष्य छोड परिन्दा भी पर नही मारता ।' यो कहकर फूलादे रोने लगी । राक्षस अपनी लडकी को रोती देख कर प्यार से कहने लगा ! 'फूलादे ! तुम्हे किसने दुख दिया है, उसका नाम तो बताओ उसको कच्चा ही न चबा जाऊँ तो फिर मै तेरा बाप कैसा । फूलादे ने कहा—'यहाँ कौन मुझे दु.ख देने आयेगा । अकेले दिन तोडती हूँ ! मेरा किसीसे विवाह कर दो तो अपना जीवन आनन्द से बिताऊँ ।

राक्षस ने कहा कि यहा कौन है, जिससे तुम्हारा विवाह हो, हाँ, तुम यदि किसीको पसन्द करलो तो मै तुम्हारा विवाह कर दूगा । फूलादे ने वचन देने के लिये कहा । राक्षस ने वचन दे दिया ।

फूलादे तुरन्त महल के तहखाने से घुडसवार को निकाल लाई । राक्षस के मन मे उसे खाने की आई लेकिन वचन दे दिया था, इससे मन मारे रह जाना पडा । राक्षस ने उसी समय दोनो के हाथ मिला दिये और इस प्रकार विवाह कर दिया ।

पर गोर को तो सपनावती की लगन लगी थी उसने फूलादे से सारीबात कह सुनाई । गोर ने एक दिन राक्षस से सपनावती के बारे मे पूछा तो राक्षस ने कहा—हुँ हमरी कोश हजार, फरू घण फेरीआ, सपनावती सरखी, अमे देखी नही नारीआ । नवु सामल्यु नाम, काम की कोई देने तू जाते रहन जवान, भुलो का भमे ?

यह उत्तर सुनकर गोर फूलाद को धीरज बधा कर आगे चल पडा । आगे गोर को मरा-मण राक्षस की लडकी जेजावती मिली । जेजावती ने भी गोर को मोम की मक्खी बनाकर बचाया और जेजावती की प्रार्थना पर मरावण ने उसका विवाह गोर के साथ कर दिया । गोर ने जेजावती से कहा कि मै सपनावती की खोज मे निकला हूँ, अत जब तक उसका पता नही लगालू तबतक कही विश्राम नही ले सकता । गोर अपने घोडे पर सवार होकर आगे चल पडा और एक भय-कर जगल मे जा पहुँचा ।

जगल मे बालनाथ योगी धूनी रमाए बैठा था । गोर ने योगी को दण्डवत् प्रणाम किया और थका हारा वहा बैठ गया । योगी ने कहा—"बच्चा !" यहा कैसे आ पहुँचा !' गोर ने कहा—'जोगीराज ! मै सपनावती की तलाश मे हूँ ! बालनाथ योगी ने कहा कि यदि तुम सपनावती को पाना चाहते हो तो एक साल सेवा करो ।' गोर योगी की सेवा करने लगा । योगी एक दिन गोर पर बहुत प्रसन्न हुआ और कहने लगा—यह सामने मेरी घोडी, जा इस पर सवार होजा । यह तुम्हे वाछित स्थान पर पहुँचा देगी । गोर घोडी पर सवार हुआ । गोर ने घोडी से कहा—मेरे मन मे जिस स्थान पर जाने की इच्छा है, मुझे वहा ले चल । गोर का कहना था कि घोडी उड चली । सारी पृथ्वी का चक्कर लगाकर वह घोड़ी सात समुद्रो को पार करती हुई एक द्वीप मे पहुँची । गोर उस स्थान को देखकर आनन्द से नाच उठा, यही उसका वांछित स्थान था । घोडी रुकी, गोर उतर कर चल पडा । गोर ने देखा—

सात समुद्र जल भरयो, तरयो मोहोल ते उपर
दरवाजे भाण ॥ दरखत, छत्रपण अमर छाजे,
सोनागढ़ सरसार, बगलो, मांहीकांचनो बिराजे।'

गोर महल के अन्दर गया तो वह क्या देखता है कि एक सुन्दरी का धड अलग पडा है और गर्दन अलग पडी है। गोर यह देखकर अवाक् हो रहा। फिर धीरे धीरे गोर ने अपने को सभाला और सोचना शुरू किया। गोर ने देखा कि खूटीपर एक अमृत कुप्पी लटक रही है। गोर ने उसे उतारा और उससे कुछ बूदे लेकर धड और गर्दन पर छिडक दिया। बूदा का गिरना था कि एक सुन्दरी-वही सपनावती अगडाई लेकर उठ खडी हुई कि आज तो खूब नीद आई। सपनावती ने सामने एक तरुण राजकुमार को देखा। उसको विश्वास नही हुआ, यहा पर यह मनुष्य कैसा। गोर ने तुरन्त सारी बात कह सुनाई और प्रार्थना की कि मै आपको अपनी मा बनाने आया हूँ।

सपनावती ने रो रोकर अपनी व्यथा कथा कह सुनाई। मै एक शजगर नामक योगी की स्त्री हूँ। यह योगी जब बाहर जाता है तो मेरे दो टुकड कर जाता है और जब वापस आता है ता अमृत की बूदे छिडककर मुझे सजीव कर देता है और फिर मेरे साथ रमण करता है। मै दुखिनी हूँ तुम मेरा उद्धार करो।

सपनावती ने गोर को तलवार की म्यान का रहस्य बतलाते हुय कहा कि जैसे ही इस तलवार को तुम म्यान मे अन्दर डाल दोगे तो सातो समुन्द्र सहित यह द्वीप, यह महल और मै इस मे बदी हो जायेगे। जब तुम निकलोगे हम सब अलग अलग प्रकट हो जायेगे। साथ ही सपनावती ने शजगर को मारने की युक्ति बताई और गोर को कुछ गोले द दिये।

गोर ने तलवार ज्योही म्यान मे डाली कि सार समुद्र व द्वीपादि सभी उसमे समागए। शजगर को मालूम हुआ तो वह पीछे दौडा, लेकिन गोर ने जब गोले चलाय तो शजगर मर गया, गोर रास्त मे अपनी दोनो परिणीता बधुओ के साथ लेता आया। धूर्त नगरी मे पहुँचकर गोर ने अपने बडे भाई को बैल की जगह जुते हुये देखा। गोर ने अपने बडे भाई का उद्धार किया और उसे कपड़े पहनाकर अपने साथ ले लिया।

राजा भोज के सामने जाकर गोर ने तलवार म्यान से निकाली कि एक अद्भुत दृश्य देखने को मिला। राजा भोज ने अपने स्वप्न को साक्षात् देखा।

सात समुद्र, बीच मे एक द्वीप, महल माणिक के वृक्ष आदि। इस प्रकार से राजा भोज सपनावती को पाकर कृत मनोरथ हुआ।

सूफी परम्परा मे 'सपनावती' का संभाव्य रूप

ऊपर 'सपनावती' की लोकवार्ता दी गई है। जायसी ने 'पदमावत' मे जिस सपनावती का उल्लेख किया है, उसके अनुसार इस का सम्बन्ध 'विक्रम' से है। भोज और विक्रम का नाम विपर्यय सभव दीखता है। जायसी के उल्लेख से स्पष्ट है कि 'विक्रम' स्वय सपनावती को अपने पुरुषार्थ से प्राप्त करता है, इससे स्पष्ट है कि लोकवार्ता मे 'सपनावती' को पाने का सारा

श्रम जो राजा भोज के पुत्र गोर ने किया है, वह सूफी-साधनापद्ध को किसी भी प्रकार स्वीकार्य नही हो सकता।

सभी प्रेम काव्यो में साधक ही स्वयं जोगी बनकर तरह तरह की विपत्तियों को झेलता हुआ अत मे अभीष्ट प्राप्त करता है। इससे संभव दीखना है कि 'सपनावती' में यह लोकवार्ता अवश्य बदल गई होगी, इतना तो जायसी के उल्लेख मे भी स्पष्ट है कि 'सपनावती' को पाने का प्रयत्न विक्रम को ही करना पड़ा है बीच मे आनेवाली 'धूर्तनगरी' और दो राक्षसो की कथा-साधक के साधन-पथ की कथिनाइया हैं। सूफी साधना पद्धति मे गुरु का बडा महत्व है, जायसी के यहा सुआ गुरु का काम करता है, सभवत 'सपनावती' मे भी कोई मार्ग दर्शक बना होगा। यदि इसी कहानी के आधार पर 'सपनावती' प्रेम काव्य किसी सूफी फकीर द्वारा लिखा गया है तो यह 'बाल-नाथयोगी' ही गुरु का पद प्राप्त करने मे समर्थ हैं।

यह लोकवार्ता इस प्रकार की अवश्य है कि जिसे आधार बना कर सूफी प्रेम-काव्य सरलता से लिखा जा सकता था। यह सौभाग्य का विषय है कि 'सपनावती' की मूल लोक-वार्ता मिल गई है, जिसकी वर्षों से शोध की जा रही थी।

श्री हरिप्रताप सिंह

मुसलमान शासकों का संस्कृत प्रेम

लगभग सभी भारतीय भाषाओ की जननी देवभाषा सस्कृत को यह गौरव प्राप्त है कि विदेशो से आये हुये मुस्लिम-शासको ने भी इसकी सेवा की। भारत मे मुस्लिम शासन के प्रारंभिक काल, १२वी शताब्दी से लेकर १७ वी शताब्दी तक की अवधि मे ऐसे अनेक मुसलमान-शासक हुये, जिन्होने सस्कृत-कवियो एव विद्वानो को अपने दरबार मे आश्रय दिया और संस्कृत की सेवा करने के लिये उन्हे प्रोत्साहित किया। यद्यपि उनकी मातृभाषा अरबी या फारसी थी, उन्होंने सस्कृत भाषा की शालीनता एव सरसता को पहचाना और वाङमय को और भी समृद्ध करने में महत्वपूर्ण योग दिया।

१२वी शताब्दी के मुसलमान-शासक शहाबुद्दीन के दरबारी कवि अमृत दत्त थ। बगाल के राजा लक्ष्मण सेन के दरबारी कवि श्रीधर ने अपनी रचना 'सदुक्तिकर्णामृत' में अमृतदत्त के एक पद्य को उद्धृत किया है। इससे इनका रचनाकाल १२वी शताब्दी से भी पूर्व माना जा सकता है। फरूकी खानदान (१३७०-१६०० ई०) के शासक बुरहान खाँ के दरबारी कवि पुण्डरीक विट्ठल थे। इन्होने ही 'रागमाला' की रचना की थी। आगे चलकर सम्राट् अकबर ने भी विट्ठल पर कृपा की। यह इससे स्पष्ट है कि इन्होंने अपनी रचना 'नर्तननिर्णय' मे लिखा है कि इसकी रचना अकबर की रुचि के अनुसार ही हुई है —

"अकबरनृपवचनार्थं भूलोकेसरलसगोतम्।
कृतमिह बहुभेव सुहृवां सुलम् भूपाल्।।"

निजामशाह और शेरशाह अन्य मुस्लिम-शासक है, जिन्होने सस्कृत को प्रोत्साहन दिया। इन्होने भानुकर को अपने दरबारो मे शरण दी थी। लक्ष्मण भट्ट ने इनके १८० श्लोको को 'पद्य-रचना' मे संग्रहीत किया। इसके अतिरिक्त कुछ अप्रकाशित ग्रथो मे भी इनके कुछ' श्लोक मिले है। इनका काल १६वी शताब्दी का उत्तरार्ध माना जाता है। इनके प्रकाशित ग्रथ गीतगौरीश' तथा 'रसमंजरी' हैं। इनके द्वारा रचित ग्रथ 'कुमार भार्गवीय' 'अलकारतिलक' तथा श्रीनगर-दीपक' अभी अप्रकाशित है। इन्होने अपने काव्यो में यत्र तत्र आश्रय देने वाले मुसलमान-शासको की बड़ी प्रशंसा की है।

भारत में मुगल-साम्राज्य की स्थापना करने वाले बाबर तथा उसके बेटे हुमायूं को जीवन भर युद्ध करते ही बीता। इस कारण ये लोग कला, साहित्य आदि की वृद्धि न कर सके। अकबर ने साहित्यसेवियो, कवियों आदि का समुचित आदर ही नही किया, वरन् उसने उन्हें अपने यहाँ आश्रय दिया और उनसे साहित्य की सेवा कराई। उसके दरबार के एक विशिष्ट संस्कृत कवि अकबरिया-कालिदास थे। इनका किसी विशेष मत या संप्रदाय से सबध नहीं था। ये शिव एव विष्णु को समान रूप से देखते थे। 'पद्मवेणी' तथा 'पद्मामृततरंगिणी' नामक अपनी रचनाओ में इन्होने लिखा है कि 'अकबर से लंका का बादशाह भी भयभीत रहा करता है। अकबर का आश्रय प्राप्त करने वाले कवि रामचन्द्र ने 'रामविनोद' 'मुहूर्तचितामणि' तथा 'प्रमिताक्षरा' पर टीका लिखी है। पुण्डरीक विट्ठल ने, जो कर्नाटक के निवासी थे, 'नर्तननिर्णय' को, जिसमे राग, गायन आदि हैं, उसी समय लिखा। इन्होंने बुरहान खाँ के दरबार में रहकर 'वदारणचन्द्रो-दय' लिखा था। पुण्डरीक विट्ठल ने 'रागमंजरी' की रचना माधव तथा मानसिह के आश्रय में की, जैसा कि

'सकलनृपतितारा चन्द्रसूर्याविमौ द्वौ जगति
जयनशीलौ माधवा मानसिहौ'

से ज्ञात होता है। अकबर के ही दरबार में नीलकण्ठ ने 'टोडरानन्द' तथा 'ताजिक नीलकण्ठी' लिखी। सूर मिश्र ने 'जगन्नाथप्रकाश' में 'अकारयद्धर्म निबधमेत धराणिपेऽकबले नरेशे" के द्वारा अकबर के आश्रय में रहने को प्रकट किया है। गगाधर ने नीतिसार लिखा था। इसमे उन्होंने लिखा है —

"श्री मन्महाराज अकबरशाहि आज्ञया गगाधर दीक्षित विरचित नीतिसारे तृतीय परमार्थ शतक पूर्णम्।"

इसी प्रकार बिहारीकृष्ण मिश्र ने 'पारसीप्रकाश' में लिखा है —

"इति श्रीशाह जल्लालदीन्द्र (अकबर) कारिते बिहारी कृष्णमिश्रकृते पारसी प्रकाशे कृत्य-प्रकरण समाप्तम्।"

श्रीकृष्ण ने जहागीर के समय मे 'बीजनवाङ्कुर' भास्कर के बीजगणित की उच्चकोटि की टीका लिखी। उसी समय रुद्र कवि ने 'नवाबखा चरित' महाराणा प्रताप की प्रेरणा से लिखा था —

"श्रीमहाराजाधिराज श्री नवाबखानानुचरिते श्रीशामपूराविपुरवर प्रतापशाहोद्योतित रुद्र कवीन्द्रविरचिते तृतीयोल्लासः"

रुद्र कवि ने दो और ग्रन्थ लिखे हैं, 'कीर्तिसमुल्लास' तथा 'दानशाहचरित'। 'कीर्तिसमुल्लास' में खुर्रम की प्रशसा तथा दानशाह चरित' में दानियाल की प्रशसा की गई थी।

शाहजहाँ के काल में भी सस्कृत के विद्वानों को आश्रय मिलता रहा। कवीन्द्राचार्य सरस्वती

के कहने पर शाहजहाँ ने काशी तथा प्रयाग मे लगे करो को बन्द कर दिया तथा कवीन्द्राचार्य को सर्वविद्यानिधान की पदवी भी दी। कवि मुनिश्वर ने 'सिद्धान्त-सार्वभौम में लिखा है :—

"श्रीसार्वभौम-जहांगीरसुनन्दनोऽय श्रीशाहजांह्-धरणी पुरहूत एव।
निष्कंटकां वसुमतीं प्रतिभाय तस्याः सरक्षणार्थमथ सेह गतासनेस्मिन्॥"

इससे यह ज्ञात होता है कि मुनीश्वर शाहजहाँ के सरक्षित कवि थे।

'काव्यवृत्तिप्रबोध में भगवती स्वामी ने शाहजहाँ की प्रशसा मे लिखा है —

"लोकाधीशो नरपतेः श्रीजहांगीरसूनोः सभ्ययोद्भूतो
निपुणभगवान् काव्यवृत्तप्रबोधम्।"

नित्यनन्द ने ज्योतिष ग्रथ 'सर्वसिद्धातराज' लिखा था। यह सम्वत १६९६ मे लिखा गया था। नित्यानन्द ने ही 'सिद्धातसिन्धु' भी लिखा था। इसमे शाहजहाँ तथा उसके पूर्वजो का वर्णन है। इसकी प्रति अलवर के पुस्तकालय मे प्राप्य है। वेदाङ्गराय ने भी अनेक ज्योतिष और धार्मिक ग्रथ लिखे। उनका एक ग्रथ 'पारसी प्रकाश' है। उनके पुत्र नन्दिकेश्वर ने भी 'गण्डकमण्डल नामक ज्योतिष ग्रथ लिखा। नन्दिकश्वर के अनुसार उनके पिता का मूल नाम 'मालजित्' था तथा उन्हें वेदाङ्गराय की उपाधि दिल्लीश्वर से मिली थी।

परमभट्ट के पुत्र तथा शेष वीरेश्वर के शिष्य जगन्नाथ कवि ने एक काजी को परास्त करके जहागीर का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट किया था। उनके कतिपय पद्यो से ज्ञात होता है कि उन्होने मुसलमान कन्या लवङ्गी से अपना सबध स्थापित किया था। 'आसफ-विलास' नामक पुस्तक भी उन्होने लिखी थी, जिस पर उन्हें शाहजहाँ से 'पण्डितराज' की उपाधि मिली थी। उनका जन्म १६वी शताब्दी के उत्तरार्द्ध में हुआ था। इनकी साहित्यिक देन गगा, यमुना तथा विष्णु के स्तोत्र, 'प्रौढ मनोरमा' पर 'कुचमर्दिनी' टीका, रस गगाधर', 'काव्य प्रकाश' एव 'चित्रमीमासा-खण्डन 'पर टीका है।' रसगगाधर का कार्य अपूर्ण रह गया। यदि वह पूर्ण हो गया होता तो वे अद्वितीय अलकारशास्त्री हो गय होते। शाहजहाँ की बेगम मुमताज महल के प्रिय कवि बशीधर मिश्र थे।

औरगजेब यद्यपि कट्टर मुसलमान था, तो भी उसके शासन काल मे सस्कृत ग्रथो के रचना का क्रम चलता रहा। ईश्वरदास ने उसके ही शासनकाल मे 'मुहूर्तरत्न' नामक ज्योतिष ग्रन्थ लिखा था। इसका काल सन् १६६३ ई० था रघुनाथ ने 'मुहुर्तमाला लिखा था। इसका निर्माण सन् १६६० ई० मे हुआ था।

दाराशिकोह स्वय सस्कृत का विद्वान् था। उसने उपनिषदो का अनुवाद कराया था। सूफीमत से विरक्ति होने पर उसे हिन्दू धर्म मे ही शांति मिली थी। वह अपनी अँगूठी आदि पर 'प्रभु' लिखता था। उसने 'योगवाशिष्ठ' का पुन अनुवाद करवाया। चतुर्भुज के 'रसकल्पद्रुम' में इसके ६ पद मिलते है। लक्ष्मीपति न अपनी लिपि मालिका मे अपनी वशावली दी है। इसमें औरंगजेब के मृत्यु की समय की एक घटना तथा मुहम्मद शाह के राज्य रोहण-काल की एक घटना

का वर्णन मिलता है। ये न्याय, ज्योतिष तथा तंत्र के विद्वान थे। अपनी रचनाओं में इन्होंने अरबी तथा फारसी के भी शब्दो का प्रयोग किया है।

मुसलमान शासकों ने सस्कृत भाषा में बद्ध भावो को समझने तथा उन्हे अनुवाद रूप में लाने के भी प्रयास किये। नसीरशाह ने 'महाभारत' का अनुवाद बगला में कराया। अकबर ने नगीन तथा 'तारीखे बदाउनी' के लेखक अब्दुल कादिर को 'महाभारत' का अनुवाद करने की आज्ञा दी। कुछ महीनो में दो पर्वों का अनुवाद हुआ। इसके बाद सुल्तान हेजी तथा शेख फैजी ने भी इसमें सहायता पहुँचायी। उसका नाम 'रज्मनशाह' रखा गया ? अब्दुल फजल ने इसकी भूमिका लिखी। सन् १५८५ ई० मे अब्दुल कादिर ने 'रामायण' का अनुवाद आरभ करके सन् १५८९ ई० मे उसे पूरा किया। एक धर्म परिवर्तित मुसलमान की सहायता से 'अथर्ववेद' का अनुवाद किया गया। फैजी न उसे शुद्ध किया। फैजी ने 'लीलावती' का और मुकम्मल खां गुजराती ने 'ताजक' का अनुवाद किया। इमामुद्दीन ने 'राजतरङ्गिणी' का अनुवाद किया और नजरूल्ला मुस्तफा ने फारसी मे 'हरिवंश पुराण' का अनुवाद किया। इसके अतिरिक्त मौलवी हुमियानी ने 'पचतंत्र का अनुवाद किया। 'अपारदानिश' के नाम से 'पचतंत्र' का दूसरा भी अनुवाद हुआ। शाइस्ता खा का सस्कृत-ज्ञान प्रसिद्ध है। दारक खाँ का 'गगास्तोत्र' महत्वपूर्ण है।

श्री राजेन्द्रसिंह गौड़, एम० ए०

सूर के माखन-चोर

हिन्दी-काव्य में बाल-मनोविज्ञान के प्रथम प्रणेता भक्त सूरदास ने अपने आराध्य बालकृष्ण की विविध लीलाओं के जो चित्र उतारे हैं, उनमें माखन-चोरी के चित्र अत्यन्त आकर्षक, मोहक, सरस, अनूठे और प्रभावोत्पादक होने के साथ-साथ बाल-चापल्य के वास्तविक प्रतीक हैं। विशेषता यह है कि एक वृत्ति के कई चित्र हैं, पर एक दूसरे से अत्यन्त भिन्न हैं। इससे उनमें नूतन रस, नवीन भाव-भंगिमा, नवीन उक्ति वैचित्र्य और अप्रतिभ मनमोहक क्षमता का समावेश हो गया है। बाल-चेष्टाओं के चित्रण में सूर ने एक चित्रकार की दृष्टि से काम लिया है। जिस प्रकार एक चित्रकार थोड़ा दाहिने-बाएँ, आगे-पीछे हटकर एक ही दृश्य के विविध चित्र उतार लेता है उसी प्रकार सूर ने एक ही बाल-क्रीड़ा को विभिन्न अवसरों और विविध परिस्थितियों के बीच रखकर अनूठी उक्तियों द्वारा कहीं उसका भाव-चित्र उतारा है, कहीं उसका दृश्य-चित्र अंकित किया है और कहीं दोनों की एक साथ प्रतिष्ठा की है। एक ही वृत्ति के दो चित्र लीजिये —

'मैया! मेरी मैं नहिं माखन खायो।
भोर भयो गैयन के पाछे मधुवन मोहिं पठायो।
चार पहर बंसी बट भटक्यो, साँझ परे घर आयो॥
मैं बालक बहियन को छोटो, छींको किस विधि पायो।
ग्वाल-बाल सब बैर परे हैं, बरबस मुख लपटायो॥'

* * *

"मैया! मैं नाहीं दधि खायो।
ख्याल परे ये सखा सबै मिलि मेरे मुख लपटायो।
देखि तुही छींके पर भाजन ऊँचे धर लटकायो॥
तुही निरखि नान्हें कर अपने मैं कैसे करि पायो।
मुख दधि पोंछ कहत नंद-नन्दन, दोना पीठ दुरायो॥"

एक चित्र माखन-चोरी का है, दूसरा दधि-चोरी का। कृष्ण चोरी करते हुए नहीं पकड़े

गये है, पर चोरी का स्पष्ट प्रमाण है—मुख पर चोरी करने के स्पष्ट चिह्न है। परिस्थिति एक सी ही है, पर दोनो चित्र एक दूसरे से भिन्न हैं। पहले मे उक्ति-वचित्र्य द्वारा बाल-चापल्य का सहज सौंदर्य अकित किया गया है और दूसरे में उक्ति-वैचित्र्य के साथ-साथ 'मुख दधि पोंछ' तथा 'दोना पीठ दुरायो'-द्वारा दृश्य-वैचित्र्य का भी अनूठा विधान है। मुह पर लगे हुए दधि को पोंछकर और फिर पीठ के पीछे दोना छिपाकर बाते बनाने का दृश्य अकित करना सूर जैसे बाल मनोविज्ञान के पारखी का ही काम है। सूर ने ऐसे एक नही अनेक चित्र उतारे है और उनका प्रत्येक चित्र कलापूर्ण है।

बाल-कृष्ण की माखन-प्रियता और दधि-प्रियता का आभास हमे तब से मिलने लगता है जब से वह घुटने के बल चलने और कुछ खाने-पीने लगते है :—

'सोभित कर नवनीत लिये।
घुटरुवन चलत, रेनु-तन-मंडित, मुख दधि लेप किये।।'
* * *
'माखन तनक आपने कर लै, तनक बदन में नावत।
कबहुँ चितै प्रतिबिम्ब खभ मे, लौनी लिये खवावत।।'

नन्द की गोद मे बैठकर भोजन करते समय भी वह माखन-मिश्री खाना नही भूलते —

'जेंवत श्याम नन्द की कनियाँ।
मिश्री-दधि-माखन मिश्रित करि मुख नावत छबि-धनियाँ।।
आपुन खात, नन्द-मुख नावत सो सुख कहत न बनियाँ।।'

कभी-कभी माता यशोदा से भी वह हठपूर्वक माखन-माग कर खाते है —

'गोपाल राइ दधि माँगत अरु रोटी।
माखन सहित देहि मेरी मैया, सुपक सुकोमल रोटी।।
कत हौ आरि करत मेरे मोहन, तुम आँगन में लोटी?'

माखन-रोटी खाकर शीघ्र बडे होने की स्पर्द्धा भी देखिए —

'मैया! मोहिं बडौ करि लै री।
दूध, दही, माखन-मेवा जो माँगौं सो दै री।।
होऊँ बेगि मै सबल सबनि मे, सदा रहौं निरभै री।'

बालकृष्ण की माखन-प्रियता और दधि-प्रियता सबधी उक्त शिशु-चेष्टाएँ उस समय कुछ और रोचक रूप धारण करती है जब वह पैरो के बल चलने और ग्वाल-बाल के साथ खेलने-कूदने लगते है। अपने हाथ-पैर हो गये, हठ करने और आँगन मे लोटने-पोटने की आवश्यकता नही रही। छीके पर रखा माखन देखा, किसी ऊँची तिपाई पर चढकर उसे उतारा, कुछ खाया, कुछ गिराया और चलते बने। पकड गये तो उलटी-सीधी बाते बना दी। माखन-चोरी की ऐसी लीलाएँ घर से ही आरभ होती हैं। एक दिन जब एक गोपी कृष्ण के मुख से यह सुनकर :—

'मैया री! मोहिं माखन भावै।
जो मेवा पकवान कहति तू, मोहिं नहीं रुचि आवै॥'

अपने मन में कहती है —

'मन-मन कहति कबहुँ अपने घर, देखौं माखन खात।
बैठे आइ मथनियाँ के ढिग, मैं तब रहौं छपानी॥'

तब अन्तर्यामी बाल-कृष्ण उस गोपी के मन की बात ताड़ जाते है और फिर —

'गए स्याम तिहि ग्वालिन के घर।
देख्यौ द्वार नहीं कोउ, इत-उत चितै, चले तब भीतर॥
हरि आवत गोपी जब जान्यौ, आपुन रही छपाइ।
सूने सदन मथनियाँ के ढिग, बैठि रहे अरगाइ॥
माखन भरी कमोरी देखत, लै-लै लागे खान।
चितै रहे मनि-खंभ-छाँह-तन, तासौं करत सयान॥
प्रथम आजु मैं चोरी आयौ, भलो बनो है संग।
आपु खात, प्रतिबिम्ब खवावत, गिरत कहत, का रंग॥
जो चाहो सब देउँ कमोरी, अति मीठो कत डारत।
तुमहिं देति मै अति सुख पायौ, तुम जिय कहा बिचारत॥
सुनि-सुनि बात स्याम के मुख की, उमँगि हँसी ब्रज नारी।
'सूरदास' प्रभु निरखि ग्वालि-मुख, तब भजि चले मुरारी॥'

माखन-चोरी की यह प्रथम उल्लासमय घटना बाल-कृष्ण को साहसी बना देती है। यदि इसी अवसर पर रोक-थाम हो जाती तो काम बन जाता, आगे होने वाले उपद्रव न हो पाते। पर रोके भी तो कौन रोके! सब तो उनके इस बाल-चापल्य पर रीझी हुई है! और बालकृष्ण का यह हाल है —

'मन मै यहै बिचार करत हरि, ब्रज घर-घर सब जाऊँ।
गोकुल जन्म लियौ सुख-कारन, सब कै माखन खाऊँ॥'

ऐसा विचार आते ही बाल-कृष्ण को योजना बनाने मे देर नही लगती —

'करै हरि ग्वाल संग बिचार।
चोरि माखन खाहु सब मिलि, करहु बाल-बिहार॥'

हो गये बालकृष्ण ग्वालो के नेता और फिर होने लगी दिन दहाड़े माखन-चोरी—

'सखा-सहित गए माखन-चोरी।
देख्यौ स्याम गवाच्छ-पथ ह्वै, मथति एक दधि भोरी॥

हेरि मथानी धरी माट तें, माखन हो उतरात।
आपुन गई कमोरी माँगन, हरि पाई ह्याँ घात॥
पैठे सखनि सहित घर सूने, दधि माखन सब खाए।
छूछी छाँड़ि मटुकिया दधि की, हँसि सब बाहर आए॥'

यहाँ तक तो हुई उनकी चोरी, माखन खायाऔर बाहर निकले। इतने मे वह गोपी कमोरी लेकर आ पहुँची और उनके मुख पर दधि-माखन लपटा हुआ देख कर पूछ ही तो बैठी :—

'कहँ आए ब्रज-बालक संग लै, माखन मुख लपटान्यौ।'

दूसरा कोई होता तो सटपटा जाता, परन्तु बाल-कृष्ण को बहाना बनाने मे देर नही लगी, कहा :—

'खेलत तें उठि भज्यौ सखा यह, इहिं घर आइ छपान्यौ।'

ऐसे एक नही, अनेक बहाने बाल-कृष्ण ने बनाये है। बातें बनाने और झाँसा-पट्टी देने की कला मे वह प्रवीण है। गोपियाँ उनकी ऐसी शरारतों पर खीजती नही, रीझती हैं। वे बाल-कृष्ण की रूप-माधुरी पर मुग्ध है, जी-जान मे न्योछावर है। सूर ने माखन-चोरी की लीलाओ को रूपासक्ति के अन्तर्गत ही चित्रित किया है। रूपासक्ति की कई परिस्थितियाँ है—कुछ गोपियाँ तो कृष्ण की रूप-माधुरी पर इतनी रीझी हुई है कि वे उन्हे माखन की चोरी करते समय लुक-छिप कर देखती है और उस दृश्य का जी भर कर आनन्द लूटती है, कुछ उन्हें माखन लूट-खसोट कर खात देखकर उनके सामन आती है और खडी-खडी हँसती रहती है, कुछ उनमे प्रश्न करती है और उनकी चिकनी-चुपडी बातो का रस लेती है, कुछ छीना-झपटी करती है, कुछ डाट-फटकार बताती है और कुछ यशोदा अथवा नन्द के पास उलाहना लेकर जाती है। इधर गोपियो का यह हाल है, उधर बाल कृष्ण की शरारते बढती जाती है। ज्यो-ज्यो गोपियाँ रीझती है, त्यो-त्यो बालकृष्ण का साहस बढता जाता है और वह ढीठ होते जाते है। एक दिन अवसर पाकर अकेले वह एक ग्वालिन के घर मे घुस गये और डाल ही तो दिया एक दही की कमोरी में हाथ, पर बेचारे तुरन्त पकड़ गये। फटकार पडी तो बोले :—

'मैं जान्यौ यह मेरौ घर है, ता धोखे मैं आयौ।
देखत हौं गोरस मैं चींटी, काढ़न कौं कर नायौ॥
सुनि मृदु बचन, निरखि मुख-सोभा, ग्वालिनि मुरि मुसुकानी।'

कोई कुछ कहे भी तो क्या कहे इस अनोखी सूझ पर! तीसो दिन माखन-चोरी होने लगी। और फिर :—

'चली ब्रज घर-घरनि यह बात।
नंद-सुत संग सखा लीन्हें, चोरि माखन खात॥

कोउ कहति, मेरे भवन भीतर अबहिं पैठे धाइ।
कोउ कहति, मोहिं देखि द्वारें उतहिं गए पराइ।।
कोउ कहति, किहिं भाँति हरि को देखौं अपने धाम।
हेरि माखन देउँ आछौ, खाइ जितनो स्याम।।
कोउ कहति, मैं देखि पाऊँ, भरि धरौं अँकवारि।
कोउ कहति, मैं बाँधि राखौं, को सकै निरवार।।'

जब गोपियों की ऐसी मनोदशा है तब बाल-कृष्ण क्यों चुपचाप बैठें। एक दिन तो वह ऐसा सफेद झूठ बोले, ऐसा स्वांग बनाया कि गोपी चकित हो गयी ---

'माखन खोराइ बैंचौ, तौ लौ गोपी आई।
देखे, तब बोल्यौ कान्ह उतर यों बनाई।।
आखें भर लीनीं, उराहनौ दैन लाग्यौ।
तेरौ री सुवन मेरी मुरली लै भाग्यौ।।
द री मोकों ल्याइ बेनु, कहि, कर गहि रोवै।
ग्वालिनि डराति जियहिं, सुनै जनि जसोवै।।'

इसी को कहते हैं 'चोरी और सीनाजोरी'। बेचारी गोपी डर गयी। बालकृष्ण ने मेवा-मिठाई खाई और एक मुरली भी झटकी। कभी जब उनसे कुछ कहते न बन पड़ा तब गोपी के मुह पर कुल्ला कर दिया या चिल्लू में पानी भर कर उसकी आखों पर छिड़क दिया और भाग खड़े हुए। कभी अनुनय-विनय भी की और पैर पकड़ कर भी बैठे। गोपियाँ परेशान हो गयी। यशोदा जी के पास उलाहने आने लगे। एक ने कहा --

'जसुदा! कहँ लौं कीजै कानि।
दिन-प्रति कसे सही परति है दूध-दही की हानि।।
अपने या बालक की करनी जो तुम देखो आनि।
गोरस खाइ, खवावै लरिकन, भाजत भाजन भानि।।'

दूसरी ने कहा ---

'सुनहु महरि अपने सुत के गुन कहा कहौं किहिं भाँति बनाई।
चोली फारि, हार गहि तोरयो, इन बातनि कहो कौन बड़ाई।
माखन खाइ, खवावै ग्वालिनि, जो उबरयो सो दियौ लुढ़ाई।।'

तीसरी ने कुछ खीजकर कहा --

'आपनौ गाउँ लेउ नँदरानी।
बड़े बाप की बेटी, पूतहिं भली पढ़ावति बानी।।

सखा-भीर लै बैठत घर में, आप खाइ सो सहिये।
मैं जब चली सामुहें पकरन, तब के गुन का कहिये॥
भागि गए दूरि देखत कतहूँ मै घर पोढ़ी आइ।
हरें-हरें बेनी गहि पाछै, बाँधी पाटी लाइ।'

इस गोपी की बात सुन कर बालकृष्ण से न रहा गया। दिया झाँसा और बोले --

'सुनु मैया! याके गुन मोसों इन मोहि लयौ बुलाई।
दधि में पड़ी सेत की मोपै चींटी सबै कढ़ाई॥
टहल करत मैं याके घर की, यह पति संग मिलि सोई।'

कितना सफेद झूठ है! फिर भी गोपियो के उलाहनो पर यशोदा को विश्वास नही होता। वह उनकी बाते बनावटी समझती है —

'पाँच बरस और कछुक दिननिको, कब भयौ चोरी जोग॥'

* * *

'बोलत है बतियाँ तुतरी हीं, चलि चरननि न सकात।
कैसे करै माखन की चोरी, कत चोरी दधि खात॥'

* * *

'तू तौ धन-जोबन की माती, नित उठि आवति भोर
लाल कुँअर मेरी कछू न जानै, तू है तरुनि किसोर

* * *

'कहा भयौ तेरे भवन गए जो पियौ तनक लै भोरै।
ता ऊपर काहे गरजति है, मनु आई चढ़ि घोरै॥'

यशोदा का मातृ-हृदय वात्सल्य मे सराबोर है, इतना सराबोर है कि बालकृष्ण की शरारतो को स्थान देने का उसमें स्थान नही है। बालकृष्ण यशोदा के प्रौढावस्था के पुत्र है। वह यौवन की सीमा पर पहुँच चुकी है और नीचे ढलना आरभ कर रही हैं। अत उनमे वह क्रोध, खीझ और उतावलापन नही है जो प्राय नवयुवनियो में पाया जाता है। उन्हें बालकृष्ण आशा के पश्चात् मिले है। इसलिए उनके प्रति उनका रुका हुआ सहज वात्सल्य फूट पड़ा है। उलाहना के अवसरो पर सूर ने उनकी इस भावना का अत्यन्त सुन्दर ढग से निर्वाह किया है। बार-बार शिकायतें आने पर भी वह क्रोध मे उबल नही पडती, बालकृष्ण को समझाती हुई कहती हैं —

'इन अँखियन आगें तें मोहन, एकौ पल जनि होहु नियारे।
औरौ सखा बुलाइ आपनें, इहि आँगन खेलो मेरे बारे॥'

* * *

'कत हो कान्ह ! काहु के जात।
ये सब ढीठ गरब गोरस के, मुख संभार बोलत नहिं बात॥
जोइ-जोइ रुचै सोइ तुम मोपै, माँगि लेहु किन तात !'

*　　　*　　　*

'काहे को लाल पराए घर कौ चोरि-चोरि दधि-माखन खात ?'

परन्तु बालकृष्ण पर यशोदा के इस समझाने-बुझाने का कोई प्रभाव नही पड़ता। माता से माखन मागकर वह किसी-न-किसी बहाने घर से निकल जाते है और राह चलती गोपिकाओ के साथ छेड़-छाड आरभ कर देते है। अब उनकी शरारते घर के भीतर ही सीमित नही है। कभी घर के भीतर और कभी घर के बाहर जहाँ भी वह दधि-माखन पाते है उस पर डाका डाल देते है। एक दिन एक गोपी ने उलाहना देते हुए कहा --

'भाजि गयो मेरे भाजन फोरि।
लरिका सहस एक संग लीन्हें, नाचत फिरत सांकरी खोरि॥
मारग तौ कोउ चलन न पावत, धावत, गोरस लेत अँजोर।'

अन्त मे यशोदा सुनते-सुनते ऊब गयी। तीसो दिन उलाहना, तीसो दिन हाय-हाय!! उलाहना देने वाली एक ग्वालिन से उन्होने कहा --

'सुन री ग्वारि! कहौं इक बात।
मेरी सौं तुम याहि मारियो, जबहीं पावौ घात॥
अब मै याहि जकरि बाधौंगी, बहुतै मोहिं खिझायौ।'

इतना ही नही, बालकृष्ण को पकड़ कर उन्होने धमकाया --

'कन्हैया! तू नहि मोहिं डरात।
षट रस धरे छाँड़ि, कत पर-घर चोरी करि-करि खात॥
बकत-बकत तोसो पचिहारी, नेकुहु लाज न आई।
ब्रज-परगन-सिकदार महर, तू ताकी करत नन्हाई॥'

इतने पर भी जब बालकृष्ण ने चोरी करना नही छोड़ा तब यशोदा से नही रहा गया ऊखल मे बाँध दिया और बोली --

'बाधौं आजु, कौन तोहि छोरै।
बहुत लँगरई कीन्ही मोसो, भुज गहि रजु ऊखल सो जोरै।''

इस पर बालकृष्ण --

'सुत-हित क्रोध देखि माता के, मन हीं मन हरि हरषै।

*　　　*　　　*

'जननी अति रिस जानि बँधायौ, निरखि बदन, लोचन-जल ढोरै।'

बालकृष्ण की ऐसी दशा देखकर गोपियो का हृदय सहज करुणा से भर गया। वे बोली :—

'जसुदा ! तेरो मुख हरि जोवै।
कमल नैन हरि हिचिकिनि रोवै, बंधन छोरि, जसोवै।।
जो तेरौ सुत खरौ अचगरौ, तऊ कोखि को जायौ।
कहा भयो जो घर के ढोटा, चोरी माखन खायो।।'

*　　*　　*

'महरि ! ऐसे सुभग सुत सो इतौ कोह निवारि।'

*　　*　　*

'कोटि बब वारौं मुख-छबि पर, ए हूं साहु, कि चोर।।'

गोपियो की बाते सुनते-सुनते यशोदा उनपर उबल पडी —

'कहन लगीं अब बढ़ि-बढ़ि बात !
ढोटा मेरौ तुमहिं बँधायौ, तनकहिं माखन खात।
अब मोहिं माखन देति मँगाए, मेरैं घर कछु नाहिं।'

यशोदा का क्रोध शान्त नही हुआ। बात हलधर तक पहुँची। हलधर आये और उन्होंने भी माता को शान्त करने की चेष्टा की, पर सब व्यर्थ। यशोदा नही मानी। बोली —

'करन देहु इनकी मोहिं पूजा, चोरी प्रगटत नाम।'

बाल कृष्ण ने अपनी रक्षा का अन्य उपाय न देखकर एक कौतुक कर डाला। ऊखल लुढकाते-लुढकाते यमलार्जुन वृक्षो के पास पहुँचे और उन्हें उन्होंने हिलाकर गिरा दिया। दोनो वृक्षो का गिरना था कि कुबेर के दो शापित पुत्र उनसे उत्पन्न हुए। बालकृष्ण ने उन्हे अपना दिव्य रूप दिखाया। यशोदा उस समय वहा नही थी। वृक्ष गिरे तो धमाका हुआ। यशोदा दौडी आई और कृष्ण का कौतुक देखकर चकित रह गयी। फिर तो उन्होने कृष्ण को बन्धन-मुक्त कर दिया और पछताती हुई बोली —

'मोहन ! हौं तुम ऊपर वारी।
कंठ लगाइ लिए, मुख चूमति, सुन्दर स्याम बिहारी।।'

*　　*　　*

'अब घर काहू के जनि जाहु।
तुम्हरैं आजु कमी काहे की, कत तुम अनतहिं खाहु।।'

इस दृश्य के साथ ही माखन-चोरी की लीलाओ का अवसान होता है। अपने इस प्रसग मे सूर ने लीलाओ की एक सुन्दर योजना प्रस्तुत की है। साथ ही वात्सल्य, शृगार, तथा अद्भुत रसो की अत्यन्त सुन्दर ढग मे प्रतिष्टा भी की है। यमलार्जुन की कथा मे बालकृष्ण के अलौकिक

रूप का महत्त्व है। सूर के बालकृष्ण परब्रह्म हैं। इसलिए वह अपनी लौकिक-लीलाओं में कहीं गोपनीय रूप से और कहीं स्पष्ट रूप से अपने अलौकिक रूप का परिचय देते हैं। माखन-चोरी के प्रसंग में उन्होंने दो अवसरों पर अपने अलौकिक रूप का परिचय दिया है—एक तो मध्य में गोपियों के 'मन की बात' जानने के समय और दूसरे यमलार्जुन के उद्धार के समय। इस से चरित्र के अन्तर्गत एक रहस्यात्मक पुट का समावेश हो गया है। चरित्र-काव्य में रहस्यात्मक पुट की एक मर्यादा होती है। उसका आधिक्य जहा चरित्र-काव्य के सौंदर्य को गहन-गभीर बना कर नीरस बना देता है वहा उसका नितात अभाव चरित्र के प्रति पाठकों का सहज आकर्षण प्राप्त करने मे बाधक होता है। सूर चरित्र-काव्य की इस विशेषता से परिचित हैं। इसलिए उन्होंने अपने चरित्र के प्रति अधिक-से-अधिक आकर्षण प्राप्त करने के लिए मनोवैज्ञानिक विश्वसनीयता के साथ रहस्यात्मक पुट का सामजस्य स्थापित किया है। यही कारण है कि न तो बालकृष्ण की कोई शरारत अस्वाभाविक लगती है, न गोपियो की शिकायत और न माता यशोदा की दुलार फटकार। गोपियो की रूपासक्ति भी वात्सल्य का ही एक अग है। इस प्रकार यह सपूर्ण प्रसग यशोदा और गोपियो के स्नेह की सहज धारा को प्रवाहित करने में समर्थ है। इस स्नेह धारा मे अवगाहन कर पाठक का हृदय भक्ति भावना से इतना परिपूर्ण हो जाता है कि उसे बालकृष्ण की माखन चोरी पर पाप-पुण्य की दृष्टि से टीका-टिप्पणी करने का अवकाश ही नही मिलता। आगे की लीलाए—दानलीला आदि—भी इसी प्रसग के वयप्राप्त रूप हैं।

माखन-चोरी की लीलाएँ न तो 'विष्णु पुराण' में है, और न 'महाभारत' मे, 'हरिवंश-पुराण' मे प्रसगवश अवश्य आ गयी है। 'भागवत' मे तो इनकी पर्याप्त चर्चा है। भागवतकार का मत है कि बालकृष्ण अपने लिए नही बन्दरो के लिए माखन की चोरी करते थे। बन्दरो के लिए माखन न पाने पर वह मचल जाते थे और रोते थ। सूर ने अपनी लीलाओ को भागवत मे वर्णित लीलाओ पर ही आधारित किया है, पर इन प्रसगो मे भी उनकी मौलिकता है। उन्होंने बालकृष्ण की प्रत्येक लीला को काव्य-कला और मनोविज्ञान के सिद्धान्तो के अनुसार ही चित्रित किया है। पर कही-कही वह रूढियो मे भी फँस गये है। जहाँ ऐसा हुआ है वहाँ काव्य का मनोवैज्ञानिक सूत्र टूट गया है। उदाहरण के लिये वह अवसर लिया जा सकता है जहाँ बालकृष्ण प्रौढावस्था प्राप्त गोपियो की चोली पर प्रहार करते हैं और यशोदा के सामने कहते हैं—"यह पति सग मिलि गोई।" ऐसे अवसर कम हैं, पर वे जहाँ भी है वहाँ दुर्बल है, अप्रासगिक हैं। पाँच वर्ष के अबोध बालको के मुख से ऐसी बाते कहलाना स्वाभाविक नही कहा जा सकता। गोपियो की चूडियाँ को तोड डालना उनके वस्त्र फाड डालना, खाट की पाटी मे उनका जूडा बाँध देना, उनके गले का हार तोड डालना, उनकी कमोरियाँ फोड डालना आदि तक तो गनीमत है, पर उनकी चोली पर हाथ लगाना—तो किसी भी दशा मे क्षम्य नही है।

श्री गिरिजादत्त शुक्ल "गिरीश"

श्री यशपाल का उपन्यास—दादा कामरेड

श्री यशपाल ने दादा कामरेड की भूमिका मे लिखा है कि "अब लोगो ने दादा कामरेड' को पढकर गालियो से विरोध करना छोड दिया है और केवल प्रशंसा मिल रही है।" प्रस्तुत प्रयत्न का उद्देश्य न गालियाँ देना है और न प्रशसा करना है, साहित्य को प्रगति देने का कितना सामर्थ्य इस रचना मे है, इसकी परीक्षा करना ही इसका लक्ष्य है।

"दादा कामरेड" की परीक्षा विचार-पक्ष और कला-पक्ष दोनो ही को सामने रखकर होनी चाहिए। विचार-पक्ष को प्राथमिकता देनी होगी, क्योकि लेखक ने भी उसे महत्त्व दिया है और उसके सम्बन्ध मे सफाई दी है।

आरम्भ ही में हम देखते है कि दो विरोधी विचार-धाराएँ आपस में टक्कर ले रही है, ये है—१ डकैतियो और हत्याओ के द्वारा क्रान्ति को अग्रसर करने वाली विचारधारा, (२) जन-जागरण द्वारा देशोद्धार की ओर ले चलने वाली विचार-धारा। द्वितीय विचार-धारा का प्रवर्त्तक होकर हरीश प्रथम विचार-धारा के प्रति विद्रोह करता है और मतभेद हो जाने के कारण दल से अलग हो जाता है अथवा अलग कर दिया जाता है। दल उसकी हत्या करने का भी निश्चय कर लेता है और दल के नेता तथा एक सदस्य उसकी हत्या के लिये प्रयत्नशील हो जाते है। आगे के दो दाँत तुडवा कर, चेहरे को तेजाब से जला कर हरीश 'सुलतान' नाम धारण कर लेता है और मजदूरो को अपने हितो की रक्षा के लिये हडताल करने की प्रेरणा देता है। आवश्यक धन के अभाव मे जब हडताल के असफल होने की आशंका उपस्थित होती है, तब एक जगह डाका डाल कर प्राप्त किये गये २७०००) में से २००००) दादा शैल बाला के द्वारा हरीश के पास भेज देता है। इन रुपयो से हडताल सफल हो जाती है। इस प्रकार प्रथम विचार-धारा कार्यक्रम के अभाव मे अपनी विरोधी विचार-धारा की सफलता के लिये साधन-सग्रह मात्र के काम में लग जाती है। सन् १९४१ में प्रकाशित हो कर तत्कालीन वातावरण-जनित उष्णता के स्थान मे इस पुस्तक में अपेक्षाकृत ठढक देख कर आश्चर्य होता है, जिसके औचित्य का अनुमोदन भूमिका मे स्वय लेखक के कतिपय शब्दो मे होता है—"आशका है, स्वय क्रान्तिकारियो की भावना को ही दादा कामरेड से कुछ चोट पहुँचने की।" लेखक ने इस आशका से मुक्ति पाने के लिये आत्म-

संतोष का मार्ग भी निकाल दिया है, जिससे संभव है, कुछ लोगो का समाधान हो जाय; किन्तु औसत श्रेणी के विचारक को यह संदेह रह जायगा कि अन्य प्रभावशाली कार्यक्रम के अभाव में सशस्त्र क्रान्ति के प्रति उतना न्याय क्यो नही किया गया जितना प्राप्त करने का उसे उचित अधिकार है।

एक तृतीय विचार धारा भी है जो उक्त दोनो ही अल्पाधिक कार्यशीलता प्रेरक विचार धाराओं को उदरस्थ करना चाहती है, वह है कामुकता की विचारधारा; उपन्यास के अंत मे लेखक ने इसी को विजयश्री से विभूषित किया है।

सशस्त्र क्रान्ति के आन्दोलन को इस प्रकार अपदस्थ करके लेखक ने उसके नेता दादा की जो दुर्दशा की है, वह शोचनीय है। डाके में प्राप्त रुपये के कारण हरीश पकड़ा जाता है तथा फाँसी की सजा पाता है। शैलबाला अनाथ हो जाती है और स्वभावत उसका भार दादा पर पड़ जाता है। वह उससे कहती है—दादा, मुझे ले चलो '+ + +' मैं यदि किसी का सहारा ले सकती हूँ तो तुम्हारा। इसके उत्तर में दादा कहता है—"मैं यह सोचता था कि मेरा जीवन निष्प्रयोजन हो गया है। जिस कार्य का साधन अपने आप को मैंने बनाया था, उस कार्य की आवश्यकता न रहने से मैं बेकाम हो गया। पर तुमने मेरे लिये काम तैयार कर दिया है। मैं समझता था कि अब दिये की ज्योति बुझती जा रही है, मैं अब किसके लिये जिऊँगा। + + + ?"

दादा का काम छिन गया है, अपेक्षाकृत एक ठंडी विचार-धारा ने शक्ति संग्रह करके उन्हे बेकाम बना दिया है, यह स्पष्ट ही है। अब जो काम उसे मिला है, उसका स्वरूप भी समझ लेना चाहिए। शैलबाला गर्भवती है, उसका और उसके बच्चे का पालन-पोषण अब दादा को करना होगा। शैल कहती अवश्य है कि वह दादा के साथ पेड के नीचे भी रह लेगी, किन्तु, कुछ भी हो, उसकी कुछ व्यवस्था करनी होगी, क्योंकि उसे उसके पिता ने भी त्याग दिया है और वह शीघ्र ही एक बच्चे की माँ होने वाली है। इसके अतिरिक्त यह असंभव नहीं है कि दादा से भी शैल को निकट भविष्य मे दो तीन-बच्चे हो जाय। यह कहा जा सकता है कि दादा ने शैल को 'बहिन' कहा है, वे कभी शैल से अन्यथा व्यवहार नही करेगे। किन्तु इस सम्बन्ध में हम आश्वस्त नही हो सकते, क्योंकि उपन्यास के अंतिम पृष्ठ पर जहाँ 'बहिन' शब्द का प्रयोग किया गया है, उसी पृष्ठ पर कुछ ही पंक्तियो के अनंतर 'कामरेड' शब्द का प्रयोग दो बार हुआ है। तथाकथित 'प्रगतिशीलता' के वातावरण मे 'बहिन' शब्द की सारी बहुमूलता नष्ट हो गयी है और 'कामरेड' शब्द में तो एक प्रतिशत भी ऐसी कोई बात नही दिखाई पडती जो शैल अथवा दादा को अन्योन्य सम्पर्क मे आकर जन-संख्या-वृद्धि से रोक सके। ऐसी अवस्था मे जब दादा के खेदपूर्वक यह कहने पर कि 'ज्योति बुझ गयी है', शैल उन्हे आश्वासन देती हुई कहती है कि 'नही दादा, हम ज्योति को जारी रखेंगे, तब उसकी बातो पर हमे कोई श्रद्धा नही होती और हम यही सोचने के लिये विवश होते हैं कि यह ज्योति न क्रान्ति के रूप मे जारी रहेगी और न हडतालो के संघर्ष के रूप में; यह आने वाले बच्चो की उस चिल्लाहट के रूप मे प्रगट होगी और बढती ही चलेगी, जिसे शान्त करने के लिये क्रान्तिकारी दल के नेता दादा को सेठो के यहाँ दरबान की नौकरी के लिये गिडगिडाने

हुए मारे-मारे घूमना पड़ेगा ! स्वस्थ उद्गम और स्वस्थ प्रवाह प्राप्त करके भी विचारधारा अंत में संकुचित होकर पाठक को न केवल कुछ देने में असमर्थ हो जाती है, वरन् उसकी शक्ति में से कुछ हरण भी कर लेती है, उसे कार्यक्रम शून्य, जड, शिथिल आलस्य मग्न बना देती है।

इस उपन्यास मे विफलता का प्रधान कारण यह है कि लेखक ने सक्रियता और कामुकता का गँठबन्धन करना चाहा है और नितान्त विरोधी तत्व होने के कारण कामुकता ने सक्रियता को ऐसा निगल लिया है कि डकार भी नही आयी। विषय वासना का पेट बड़ा गहरा होता है और शैल बाला जैसे पात्र की सृष्टि करके लेखक ने यही समझाने मे सफलता पायी है कि इसके प्रति उदारता का व्यवहार करने से यह निरतर प्रचड ही होती चलेगी। शैलबाला का नग्न शरीर देखने की हरीश की कामना और शैलबाला का सहर्ष उसके लिये तैयार होना, फ्रायड के काम विज्ञान से सम्बन्धित कोई बहुत महत्त्वपूर्ण वस्तु हो सकती है उसे प्रस्तुत करके नीतिवादियो की अनुदारता के विरोध में, मानव चरित्र की स्वाभाविकताओ के प्रति अधिक उदारता के लिये लेखक का कलात्मक अनुरोध प्रयत्न वाछनीय भी हो सकता है, किन्तु लेखक ने यदि कोई बात समझा पायी है, यदि किसी बात की ओर वह सकेत कर सका है तो वह केवल यही है कि शुद्ध स्वाभाविकतापूर्ण, त्यागमय प्रेम का सहारा पकडकर के ही सक्रियता, कर्मठता को जीवित रक्खा जा सकता है, अन्यथा नही। 'दादा कामरेड' जिस रूप मे हमारे सामने प्रस्तुत है, उसमे तो यही समझ पडता है कि उसका सदेश जीवन के सब सघर्षों का त्याग करके अत्यन्त विकृत, उन्माद-ग्रस्त नारी के उद्धार मे लगने के पक्ष मे ही है। कर्म की नीरस दिशाओ को छोडने और सरस दिशाओ की ओर चलने की प्रेरणा दे, तभी कला की जीवन रक्षा सभव है, किन्तु यदि वह समग्र कर्म ही का लोप करने को अग्रसर हो तो इस प्रयत्न मे अनायास ही आत्महत्या कर लेगी। यहां यह सदेह न होना चाहिए कि मै नारी उद्धार प्रयत्न के महत्त्व को घटाना चाहता हूँ, किन्तु देश सेवा के अपरिमित क्षेत्र को ग्रहण करना और फिर उसे छोड कर व्यक्ति-सेवा के सीमित क्षेत्र में सतुष्ट हो जाना घोर पतन है, मृत्यु है।

अब 'दादा कामरेड' के कलापक्ष को लीजिये। अपने 'दो शब्द' में लेखक ने कहा है—"कला का उद्देश्य है जीवन मे पूर्णता का यत्न। बजाय इसके कि कला का यत्न बहक कर हवा में पैतरे बदल कर शान्त हो जाय, क्या यह अधिक अच्छा नही कि वह समाज के लिये विकास और नवीन कला के लिये आधार प्रस्तुत करे।" यह कसौटी ठीक है, किन्तु क्या इस पर 'दादा कामरेड' चौकस उतरता है ? क्या पाठक को उसमें जीवन-विकास के तत्त्व प्राप्त होते है ? नवीन कला का कौन-सा आधार उसमें प्रस्तुत किया गया है ?

शैलबाला कलंकिनी है। उसके पिता ने उसे त्याग दिया है। शायद इस तिरस्कार से वह मर्माहत है और सहानुभूति की भूखी है वह दादा से प्रश्न करती है—क्या आप भी मुझे कलंकिनी समझते है ? इसके उत्तर में दादा ने जो कुछ कहा, उसका साराश है—नही, कदापि नही। कोई भी कलाकार कीचड को चदन कहने का साहस नही कर सकता, अधिक से अधिक वह इतना ही कर सकता है कि कीचड को कमल का जनक बतला कर कीचड का महत्त्व भी झलका

दे। शैल ने यदि हरीश के साथ सच्चा प्रेम किया है और उसके परिणामस्वरूप वह माता हुई तो इसमें कलंक की कोई बात नहीं है और यदि इसी बात को ध्यान में रखकर दादा ने उसे कलंकिनी नहीं माना तो वह सर्वथा आपत्तिशून्य है रूढ़ियो के मर्म पर आघात करके कलाकार इस सत्य को स्वरूप दे, इसमें उसकी सफलता है। किन्तु यदि शैल उसी प्रेम को जो उसने हरीश को दिया आज दादा को, कल राबर्ट को, परसों और किसी को देती फिरती है तो उसका यह प्रेम नहीं, विकृत कामोन्माद कहा जायगा। प्रेम मनुष्य के हृदय को एक केन्द्र दे देता है, जहाँ वह स्थिरता प्राप्त कर लेता है, जहाँ वह अंगद के पैर की तरह अचल हो जाता है। यह दृढतापूर्वक नहीं कहा जा सकता कि शैल ने अपना केन्द्र प्राप्त कर लिया है, वह अभी तक सदायात्मा बनी हुई है। पहले उसने हरीश को नष्ट किया, अब वह दादा को चौपट करने की ओर बढ़ो है, दादा भी उसका अंतिम पड़ाव नहीं हो सकता, उसके व्यक्तित्व को रसशून्य बना कर वह तीसरे, चौथे की अनंत खोज मे लगी रह सकती है। इस आचरण में निर्मलता कहाँ है? इसमे सौन्दर्य कहाँ है? किन्तु शायद लेखक को निर्मलता की, अथवा सौन्दर्य की तलाश नहीं है। यह समझ पड़ता है कि उसका आग्रह प्रजनन-प्रवृत्ति को गौरवान्वित मात्र करने का है। उसके निम्नलिखित वाक्य देखिये—

"दादा कामरेड की शैल स्वयम् कुछ न होकर घृणा मे नाक-भौं सिकोड़ने वालों की अतृप्त परन्तु जागरूक सक्रिय प्रवृत्ति ही है। समाज मे मनुष्य की यह प्रवृत्ति काम किये जा रही है। इस देश और संसार की बढ़ती हुई जन संख्या इस बात का अकाट्य प्रमाण है। उस प्रवृत्ति को घृणित समझ उसे तृप्त करने की चेष्टा करते जाना ही आज का परम्परागत आचार और नैतिकता है।"

इन पंक्तियों मे लेखक यह कहता-सा जान पड़ता है कि शैल ने वही कार्य तो किया है जो सारा संसार कर रहा है, फिर उसके प्रति घृणा क्या की जाय? उसे सहानुभूति क्यों न दी जाय?

कहने की आवश्यकता नहीं होगी कि लेखक का घृणा-सम्बन्धी आरोप सर्वांश मे उचित नहीं है। विरक्त से विरक्त चिन्तकों तथा महात्माओं ने प्राणी मात्र की भावनाओं के प्रति करुणा प्रवाहित की है, उसकी वासनाओं के कारण उसका तिरस्कार नहीं किया है, महाकवि वाल्मीकि और बुद्धदेव इसके उदाहरण हैं। कठिनाई केवल एक है—मनुष्य सदैव प्रगतिशील रहा है और उसने अपने अनुभव के आधार पर अपने सौन्दर्य-बोध मे भी प्रगति की है। कौन कह सकता है कि वासवदत्ता मे सौन्दर्य नहीं था, किन्तु क्या एक साधारण व्यक्ति भी उसे यशोधरा से भी अधिक सुन्दर-सम्पन्न बतला सकेगा? इसका कारण यही है कि अनेकत्व की परिधि पर अनंत काल तक भ्रमण करते रहने मे, ग्रीष्म की लू की लपटों से झुलस कर हाँफने वाले, आश्रय की खोज मे दौड़ने पर जगह-जगह से दुरदुराये जाने वाले कुत्ते के व्याकुल होने मे यदि कहीं सौन्दर्य है तो वह केवल हमारी करुणा का आवाहन कर सकता है, हमारी श्रद्धा का नहीं, क्रौंच पक्षी की काम रति को किसी ने घृणा की दृष्टि से नहीं देखा, उसकी वासना के प्रति हमारे हृदय में दया का ही संचार होगा। श्रद्धा का उपहार दे तो वह बहुत बड़ी माँग है और साहित्य और कला के प्रेमियों द्वारा उसकी पूर्ति सम्भव नहीं है।

शैल हमारी श्रद्धा का पात्र भी हो सकती थी किन्तु यह उस अवस्था मे जब हमें यह ज्ञात हो सकता है कि हरीश के रूप मेअपना केन्द्र प्राप्त करके अब वह उसी मे समाधिस्थ हो गयी है। केन्द्र की खोज में एक हद तक परिधि पर भटकने के लिये विवश होना स्वाभाविक है और स्वाभाविकता के अनुपात में उचित भी है, किन्तु निरन्तर भटकना और किसी भी विश्राम स्थल को केन्द्र के रूप मे मान्य न करना उतना ही अस्वाभाविक और अस्वाभाविकता के अनुपात मे अनुचित है जितना डाल मे लगे हुए किसी कच्चे फल का यह कहना कि मै पकूँगा नही और पकने पर डाल से गिरूँगा नही। शैल ने स्थिरता नही प्राप्त की है, इसका प्रमाण वह उत्सुकता है जो उसने दादा के साथ जाने मे दिखायी है, उसमे अब भी गभीरता का सचार नही हुआ है उसमे अब भी समझ नही आयी है और उसने दादा की तनिक भी ठोकने-बजाने की आवश्यकता नही अनुभव की है, उसकी भावनाएँ लगभग स्पष्ट है और हमारी यह आशका प्राय विश्वास के निकट पहुँच जाती है कि शैल दादा को भी आत्मसात् कर जायगी। शैल मे इसी कारण हम सौन्दर्य का दर्शन नही कर सकते, उसे अपनी श्रद्धा नही दे सकते, हमे दूसरा सौन्दर्य चाहिए जिसे हम अपना हृदय अर्पित कर सकें।

आज का परम्परागत आचार और नैतिकता जिनके आग्रह का विषय है, जो शैल की काम प्रवृत्ति से घृणा करते है और स्वय उसी से प्रेरित होकर दुराचारपूर्वक अथवा सदाचारपूर्वक ससार की जनसख्या बढाते चलते है उनकी उपेक्षा की जा सकती है, किन्तु उच्चतर सौन्दर्य बोध से प्रेरित होकर जो शैल को अपनी श्रद्धा उसी तरह नही दे सकता जिस तरह आज का युद्ध अणुबम विशारद की तुलना मे लाठी, तलवार भाला, तोप आदि को सम्मानित नही कर सकता, उस सहृदय के परितोष का साधन लेखक किस प्रकार करेगा? क्या वह उसे भी तिरस्कार ही देगा?

नवीन विचार-धाराओ और परिस्थितियो की पृष्ठभूमि मे नवीन कला का आधार प्रस्तुत करना, कला को नये रूप मे प्रतिष्ठापित करना रचनाकार का कर्त्तव्य है और उसका स्वागत होना चाहिए, किन्तु अनावश्यक रूप मे, अत्यन्त भद्दे तरीके मे, फ्रायडियन तत्त्व का समावेश करके कला का जिस तरह आज कल गला घोटा जा रहा है, उससे और कुछ भले ही सभव हो, किन्तु न तो समाज का विकास हो सकता है और न नवीन कला के लिये आधार प्रस्तुत हो सकता है।

'दादा कामरेड' मे उपन्यास की परिणति जिस प्रकार हुई है, उससे नायक का स्थान दादा को देने के लिये बाध्य होना पडता है। किन्तु उपन्यास का वही प्रधान नायक है, इसका हलका भी सकेत उपन्यास मे कही नही दिया गया है। इस कारण यदि वह नायक रूप मे मान्य किया जाय तो यह भी कहना पडेगा कि वह डाल से टपके हुए फल की तरह अनायास ही शैल को मिल गया है। यदि हम असदिग्ध रूप से हरीश को उपन्यास के नायक का पद दे सकते तो निस्सन्देह उपन्यास की कलात्मकता की रक्षा हो जाती। किन्तु लेखक को शायद अपने उपन्यास को सच्चे अर्थ मे कलात्मक बनाना ही नही था। उसे कला के उस रूप से संभवत: अधिक सहानुभूति थी जिसका आधार वह सौन्दर्य था जिसको मनुष्य, बहुत दिन हुए, पीछे छोड आया है।

श्री ब्रजभूषण मिश्र, एम० ए०, बी० टी०

भारतेन्दु-मण्डल के उज्ज्वल नक्षत्र—श्रीराधाचरण गोस्वामी

हिन्दी भाषा और साहित्य का जो रूप आज हम देख रहे हैं उसके मूल में भारतेन्दु-चन्द्रिका की आभा स्पष्ट है। भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्रजी ने स्वयं जो लिखा है वह तो लिखा ही, उनकी विशेषता यह थी कि उन्होंने ऐसे व्यक्तियों का एक मण्डल बनाया एवं उसे अनुप्राणित किया जो समस्त संभव उपायों से नवीनता को समझने में, उसके मूल्यांकन में, उसके मार्ग दर्शन में, उसे एक निर्दिष्ट दिशा देने में विश्व-विश्रुत उदारता एवं कर्मठता का पूर्ण परिचय देता है। इस मण्डल की एक विशेषता और रही है, वह है साहित्य और समाज को राजनीतिक चेतना से चैतन्य करना। जिस द्रुतगति से राजनीतिक उत्थान हुआ और सफल हुआ, उसमें तत्कालीन लेखकों एवं विचारकों की तपस्या अन्तर्निहित है।

उक्त मण्डल के एक आलोकमय नक्षत्र श्री राधाचरण गोस्वामी थे। आपका जन्म भारत-प्रसिद्ध परम पावन तीर्थ श्री वृन्दावन धाम में फाल्गुन कृष्ण ५, शु० सं० १९१५ को हुआ था। आपके पिता गुल्लू गोस्वामी माध्वसम्प्रदाय के आचार्य थे। गौडवंशावतंस के आविर्भाव पर फूल की थाली बजी, उछाह मनाया गया, बधावा गाया गया।

प्राचीन रूढ़ियों से जकड़े हुए वातावरण में परम्परा पालन की आस्था को शिशु ने माँ के दूध ही में पिया। शिशु के संवर्धन में शारीरिक, मानसिक, नैतिक एवं आध्यात्मिक अभ्युत्थान में माता का सदा विशेष हाथ रहा करता है। आपकी विदुषी माता ने शिशुपर शैशव में ही उन प्रभावों को डाला, जिसने समय पाकर शिशु को समग्र भारत का श्रद्धाभाजन बनाया।

सं० १९२७ में आपकी नियमित संस्कृत शिक्षा प्रारंभ हुई। पण्डित परिवार होने के कारण अबतक अनेक श्लोक कंठ हो गये थे। अपने पितृचरण के साथ शिष्य वर्ग में बहुधा जाते रहने से आप पर आचार-व्यवहार का बड़ा सुन्दर संस्कार पड़ा। विविध परिवारों के संस्कार-संदोह का ही परिणाम था कि कट्टर सनातनी युवक में भारतीय उदारता की नींव जमी। ३ वर्ष पश्चात् फर्रुखाबाद से पण्डित उमादत्त जी से कौमुदी पढ़ी और राजकीय स्कूल में अँग्रेजी पढ़ने को नाम लिखाया। यह समाचार शिष्यवर्ग में दावाग्नि-सा अविलम्ब फैल गया। गुरू-घराने का बालक म्लेच्छभाषा सीखे—यह शिष्यवर्ग सहन कैसे करता? उस समय

अंग्रेजी का उतना व्यापक प्रचार भी न था। गोस्वामियों की जीविका का स्रोत शिष्यवर्ग की श्रद्धा में ही था। उस पर आघात लगते ही खलबली मच गयी और गुल्लू गुसाईं को झुकना पड़ा, राधाचरण को अंग्रेजी स्कूल से नाम कटाना पड़ा। इस हार की नींव पर ही आपके भावी विविध विजय-प्रासाद खड़े हुए, जिनमे उनके यश में चार चाँद लग गये।

इस समय काशी मे भारतेन्दु का उदय हो चुका था, उसकी चन्द्रिका यत्रतत्र फैल रही थी। गोस्वामी राधाचरण का उस ओर आकर्षण हुआ और इसी से उनके साहित्यउत्थान का श्रीगणेश हुआ। स० १९३२ मे १७ वर्ष के अपरिपक्व अवस्था में सार्वभौम मधुसूदनाचार्यजी के सहयोग से 'कविकुल-कौमुदी' नामक सस्था स्थापित की। इससे उनकी परिष्कृत रुचि का पूरा पता लगता है। सामाजिक क्षेत्र में आकर गोस्वामीजी ने सामाजिक समस्याओ को सुलझाने के निमित्त धार्मिक ग्रथो का अनुशीलन किया, जिसने उन्हे अपनी जीविका को सहारा दिया तथा ज्ञान-सवर्धन मे उचित दृष्टिकोण प्राप्त हुआ। इसी समय 'देसिल बयना सबजन मिट्ठा' के उथलेपन का आपको कटु अनुभव हुआ। धार्मिक उदारता मे समूचे संसार मे अद्वितीय हिन्दू धर्म न, उसमें भी व्यापक वैष्णवग्रथो के सतत अनुशीलन ने उन्हे अत्यन्त उदार-हृदय बनाया। बगाल मे प्रचलित ब्रह्मसमाज ने तथा गुजराती दयानन्दजी के आर्यसमाज ने आपकी दृष्टि को विशाल बनाने मे सहायता दी। मथुरा मे स्वामी दयानन्दजी के साथ आपका साक्षात्कार भी हुआ था। उनके महान् व्यक्तित्व से वे अछूते न रहे। जिस दकियानूसी विचार के कारण आप को अग्रेजी विद्या से वचित रहना पडा उसी को स्वामी दयानन्द जी ने सींचा। वह उनके मस्तिष्क मे बद्धमूल होकर 'कविकुल कौमुदी' के मञ्च से समाज पर प्रतिष्ठित हुआ। उनकी ख्याति का यही अर्थ है।

स० १९३४ मे आपने जीविका और कलम दोनो सँभाली तथा ६ वर्ष तक अनवरत हिन्दी के प्रचलित प्राय सभी पत्रो मे लिखा। आपके लेख सारगर्भित एव प्रभावशाली है। आपके लेखो की सख्या दो सौ होगी, इनमे वे पबध भी सम्मिलित है जो अलग पुस्तकाकार भी हो सकते है। सतत लिखने के अभ्यास से प्रतिभा को मँजने का अवसर मिला। आपके लेख के विषय बहुत विस्तृत है, आपकी प्रतिपादन शैली विचित्र है। प्रत्येक बात को अपने ढग से ही देखते है, प्रतिभा उसमे चार चाद जड देती है। साहित्य, राजनीति, समाज और धर्म को आपने अपनी लेखनी द्वारा नवीन प्रेरणा तथा चेतना दी।

आपका सबध भारतेन्दु हरिश्चन्द्रजी से स्थापित हुआ। वे प्राय वृन्दावन आते और गोस्वामी जी के यहा टिकते। काव्य रसिको का एकत्र होना स्वाभाविक है। 'समानशीलव्यसनेषु सख्यम्'। भारतेन्दु का आप पर गहरा प्रभाव पडा। सन् १८८३ मे आपने 'भारतेन्दु' नामक एक साहित्यिक पत्र प्रकाशित किया, जो अर्थ एव सहयोग के अभाव मे अस्त हो गया। इस अल्पकाल मे ही आपकी सपादनकला की प्रशसा हुई और आपने सन् १८८४ में पत्रसपादको की सभा का मन्त्रित्वपद प्रयाग मे सँभाला। इस प्रकार साहित्य की सेवा के साथ सामाजिक सेवा भी आपने अपनायी।

सामाजिक कार्य का चस्का बुरा होता है। यह वह कामरी है जो जैसे-जैसे भीगती है, वैसे ही वैसे भारी होती जाती है। यदि उसमे योग्यता, बुद्धि और प्रतिभा का सम्मिश्रण हो जाय तो यह अपूर्व मणिकाञ्चन सयोग होता है। श्री गोस्वामी जी में ये गुण मानो पैर तोडकर बैठ गये थे। कलकत्ता काग्रेस मे आपने अपने जिला का प्रतिनिधित्व किया। यहा आपकी उदार-दृष्टि और भी परिमार्जित हुई। कलकत्ता मे उस समय ब्रह्म समाज की बडी धूम थी और उसने आपको भी प्रभावित किया। नवीन भाव, नूतन आन्दोलन और अभिनव विचार के लिये आप मानो सदा तैयार ही बैठे रहते थे। 'विदेशयात्रा विचार' व 'विधवा विवाह रिवाज' के लिखने में यह भावना अन्तर्निहित है। सनातनधर्म के दकियानूसी विचारो मे क्रान्ति पैदा करने वाले इन दो ग्रथो ने हलचल मचा दी। खादी पहनने और क्रान्तिकारी (युगान्तरकारी) पुस्तको के लिखने से आपपर आपके बधु-बाधव छीटा कसे बिना न रह सके। धर्मप्राण महामना मालवीय जी ने गोस्वामी-कुलावतस द्वारा विधवा विवाह समर्थन देख आपको एक लबा फटकारपूर्ण पत्र लिखा था। आप तो अपनी मान्यताओ मे दृढ थे। वे नवीनताओ के आश्चर्यकारी उत्स थे, जिसके कारण आपको अपने परममित्र भारतेन्दु बाबू का भी कटाक्ष सहना पडा था। ब्राह्मधर्म के समर्थन मे कलकत्ता के 'बाधव' मे आपने एक लेख लिखकर अपने निर्भीक, अभीरु विचार स्वातन्त्र्य का जो उज्ज्वल उदाहरण प्रस्तुत किया, वह सर्वथा आदरणीय एव अनुकरणीय है। चेला-सेवको के बीच ब्रह्मधर्म का अनुमोदन उनकी जीविका पर प्रभाव डाले बिना न रहा। पर इस दृढप्रतिज्ञ को जो बात जँची वह उसने निर्भय हो कही। वीर समाज नही ढूढता, वह अवसर नही चूकता, परिणाम नही देखता। इससे यह स्पष्ट है कि आपके विचार तत्कालीन धारा से कही आगे थे। दुराव को हेय मानने के कारण आपने अपने विचार स्पष्ट रूप से रक्खे। कुल की कट्टरता, मित्रोकी आलोचना आपकी उदारतामें बाधा न डाल सकी। ऐसी कोई शक्ति न थी जो आपके धर्म, देश, समाज और साहित्य के विचार पर अपने व्यक्तित्व की छाप डालने मे अग्रसर हो।

आपमे सगठन-प्रतिभा अद्वितीय थी। प्रत्युत्पन्नमतित्व के आप मानो पुतले ही थे। शिक्षा कमीशन के सम्मुख २१,००० व्यक्तियो के हस्ताक्षर द्वारा हिन्दी-समर्थन का जो कार्य किया गया, उससे उनकी सामयिक सूझ एव सगठन शक्तिमत्ता का परिचय मिलता है। हिन्दी साहित्य सम्मेलन का वार्षिक अधिवेशन वृन्दावन मे होनेवाला था। मतभेद के कारण कार्य में अतीव शिथिलता थी और यह स्पष्ट दिखने लगा कि वृन्दाबन की नाक अब जाने को ही है कि गोस्वामीजी ने सारा प्रबध अपने हाथ मे लिया और ऐसा अच्छा प्रबध इतने अल्पकाल मे ही कर दिखलाया कि लोग दाँतोतले उँगली दबाने लगे तथा वृन्दाबन की शान को आँच न लग पायी।

आपकी विद्वत्ता, सदाचार-सम्पन्नता वा प्रतिष्ठा से आकृष्ट हो खादीका प्रयोक्ता होने पर भी विदेशी ब्रिटिश सरकार ने आपको आनरेरी मजिस्ट्रेटी दी, जो उस समय एक न्यामत मानी जाती थी। इस पद पर आरूढ रह मुकदमो मे आपने सुलह अधिक कराए, झगडो को आगे बढने से रोका और कानूनी दावपेच में दुरित सत्य को अनावृत किया। उनके फैसले वादी-प्रतिवादी दोनो सहर्ष स्वीकारते थे। वृन्दावन नगरपालिका के आप कतिपय वर्षों तक सतत सम्भ्रात सदस्य बने रहे।

आपकी कार्य प्रतिभा का जो विकास यहाँ दीखा वह अन्यो के लिये आदर्श है, स्पृहणीय है एव आचरणीय है।

समाजसेवी को सदा एक नशा-सा बना रहता है, जो उसे निरन्तर बिना थके अधिक कार्य की ओर प्रेरित करता है। यौवन, धन, सम्पत्ति व प्रभुता के आप आकर थे। पर अविवेकता के अभाव मे, विनाश को पुरस्सृत करनेवाले ये सद्गुण बन गये। आपका व्यसन अध्ययन था। स्वभाव से सरल आप अपनी बैठक मे सदा पुस्तको से आवृत्त ही देखे जाते थे। उनकी सादगी गजब की थी। शरीर को सजाने की जो साधारण प्रवृत्ति गोस्वामियो मे होती है, उसके आप अपवाद थे। स्नानोपरान्त देह को पोछना आवश्यक है यह स्यात् उनके मन मे कभी आया ही नही। वे अपनी बैठक मे किवाड के सहारे बैठा करते थे आज भी उनकी पीठ के चिह्न को सचित किये किवाड मौन कथा कह रहे है।

हिन्दी मे आत्मचरित लिखने की परम्परा को डालने का श्रेय गोस्वामी राधाचरण जी को ही है। भारतीय आत्मगोपन का पक्षपाती सदा से रहा है पर अभिनव के अद्भुत पूजक गोस्वामी जी ने इस परपरा को तोडा और आत्मचरित परम्परा का श्रीगणेश किया। सुसगठित भाषा में आपने बँगला से 'विराजा', 'जावित्री' और 'मृण्मयी' नामक उपन्यासो का अनुवाद किया तथा निम्नोक्त मौलिक नाटक रचे—सुदामा, सतीचन्द्रावली, जयसिह राठौर और तनमनधन गोसाईं जी को अर्पन। आत्म चरित के अन्त मे आपने लिखा है

"अब मै थोडी सी अपनी जनरल रिव्यू करता हूँ।

(१) मै एक आर्थोडॉक्स (कट्टर) कुल मे उत्पन्न हुआ हूँ, परन्तु देशोपकार के सब कामो मे उदार हूँ।

(२) मै एक कट्टर वैष्णव और कट्टर हिन्दू हूँ। बहुत से आर्य समाजी, ब्रह्मसमाजी, मुसलमान, ईसाई मेरे सच्चे मित्र है और बहुधा इनके समाज मे भी जाता हूँ।

(३) कपट, दभ, छल भरे हुए किसी भी कार्य मे सहानुभूति नही रखता।

(४) देशोन्नति, नेशनल काग्रेस, समाज-सशोधन, स्त्री स्वातन्त्र्य ये सब मेरी प्राणप्रिय वस्तुएँ है।

(५) सत्यमेव जयते यह मेरी मुद्रा का लक्ष्य है और जीवन का भी।

(६) निर्बल पर बलवान का अत्याचार मेरी आखो का शूल है।

(७) अस्य दग्धोदरस्यार्थे क कुर्यात् पातक महत्। (इस जले पेट के लिये कौन घोर पाप करे।)

(८) ऊनविंशति शताब्दि के गुणो का पक्षपाती हूँ, भ्रष्टाचार-दुराचार का नही।"

इस जनरलरिव्यू से स्पष्ट है कि वे कितने विशालहृदय तथा उदारचेता थे। कितने

छात्रों को एवं विधवाओं को वे कितनी आर्थिक सहायता दिया करते थे यह रहस्य उनके गोलोकगमनोपरान्त ही परिवार वालों को ज्ञात हो सका। दान को गुप्त रखने के विषय में कहा गया है कि वह इतना अप्रकट हो कि दूसरे हाथ तक को इसका पता न चलने पावे। इसका सक्रिय ज्वलन्त प्रतीक थे श्री राधाचरण जी गोस्वामी, जिनका निकुंजप्रवेश संवत् १९५७ में हुआ था। इस प्रकार प्राचीनार्वाचीन के निर्भीक सम्मिश्रण का यश शरीर प्रारंभ हुआ। आज जब भारत स्वतन्त्रता में करवट बदल रहा है, ऐसे साहित्यिक महापुरुषों की अतीव आवश्यकता है।

पुस्तक-परिचय

बापू की छाया में--लेखक—श्री बलवन्त सिंह, प्रकाशक--नवजीवन प्रकाशन मन्दिर, अहमदाबाद, आकार—डबलक्राउन १६ पेजी, पृष्ठ संख्या १६ + ३६४; मूल्य—ढाई रुपये ।

बापू के देहावसान के पश्चात् उनके सम्बन्ध मे जो सस्मरण-साहित्य हमारे सामने आया है, उसमें इस पुस्तक का विशेष स्थान है । इसलिए कि बलवन्तसिंह जी कोई पेशेवर लेखक नही हैं, इसलिए भी कि प्राय ३०- ३२ वर्ष तक बापू की सस्थाओ के गहरे सम्पर्क के बावजूद वाणी के मौन में उनकी साधना निखर उठी है। इसीलिए लेखक न होने पर भी उनकी लेखनी में एक स्वाभाविक गति, एक ऐसी सरलता है जो मन को खीचती है। जाट होने के कारण अपनी ग्रामीण सरलता और अपने काम में चिपटने का गुण उन्होंने साबरमती, वर्धा, सेवाग्राम तथा बाद के जीवन मे भी कायम रखा है और गोसवर्द्धन के क्षेत्र मे उन्होने पर्याप्त ठोस काम किया है । अपने लम्बे रचनात्मक सेवामय जीवन के अनेक मधुर, प्राणदायी एव मगल-स्मरण इसमे एकत्र है । केवल बापू ही नही, उनके अनेक सहकर्मी एव अनुयायी कार्यकर्ता-कुटुम्ब की स्मृतियाँ इसमे सगृहीत है। इस प्रकार यह न केवल अनेक मूल्यवान स्मृतियो का आकलन है वर एक जीवन के सस्कार एव सवृद्धि का पूरा चित्र इसमे मिलता है।

बापू जी के सिद्धान्त एव जीवन के विद्यार्थियो के लिए यह पुस्तक अत्यन्त उपयोगी है और जीवण जी भाई ने इसे 'नवजीवन' मे प्रकाशित कर हिन्दी के सस्मरण-साहित्य में एक उल्लेखनीय अभिवृद्धि की है।

आश्रम-भजनावलि--प्रकाशक--नवजीवन, प्रकाशन मन्दिर, अहमदाबाद, मूल्य–आठ आने

प्रसिद्ध आश्रम-भजनावलि का यह नया संस्करण है। युगो पूर्व सगीत के आचार्य श्रीनारायण मोरेश्वर खरे से गाधीजी ने सन्तो के पावन भजनो का सकलन कराया था। आश्रम की प्रार्थनाओं मे ये भजन गाये जाते थे। बाद के सस्करणो मे बराबर वृद्धि होती गयी। जैसे आश्रम सर्व भारतीय बाद मे अन्तर्राष्ट्रीय बना और वहा विभिन्न प्रदेशो के निवासी एव धर्मों के अनुयायी एकत्र होते गये त्यो-त्यो प्रार्थना भी सर्वधर्मावलम्बिनी होती गयी और भजनो में हिन्दी, बंगला, गुजराती, मराठी तथा अंग्रेजी के अनेक भजन एकत्र होते गये। इस प्रकार यह भजनावलि गांधी जी-प्रवर्तित प्रार्थना विस्तार का एक प्रामाणिक रूप हमारे सामने रखती है और चयन की दृष्टि से भी अनमोल है।

भूदान-गंगा (भाग:—१-२)—प्रवचनकार—विनोबा, आकार—डि० क्रौ० १६ पत्री; पृष्ठ संख्या—क्रमशः २८८ और ३१६, मूल्य-प्रत्येक भाग का डेढ़ रुपया, प्रकाशक—अखिल भारतीय सर्व-सेवा संघ-प्रकाशन, राजघाट, काशी।

भूदान-गंगा में इस गंगा को हमारे मैदानो में लानेवाले भगीरथ विनोबा के पिछले पाच वर्षों के महत्त्वपूर्ण प्रवचनो का सकलन किया गया है। सकलन स्वय विनोबा की देखरेख में तैयार हुआ है और क्रम ऐसा रखा गया है कि इससे भूदान आन्दोलन के क्रमविकास का स्पष्ट चित्र आखो के आगे खड़ा होता जाता है।

विनोबा जी की वाणी ऋषि-वाणी है। वह पवित्र करने वाली ह। उनके क्रातदर्शी जीवन और वाणी मे मानवता का एक नया चेतन स्पर्श प्राप्त हुआ है उन्होंने सम्पूर्ण जीवन-दृष्टि ही बदल दी है और गाधी-दर्शन की भूमिका को न केवल उच्च शिखर तक ले गये है वर उसकी अगणित सभावनाओ को प्रत्यक्ष भी कर दिया है। उनके विचारो को जानना मानवता की गगा को और आगे ले जाना है। इस गंगा मे अवगाहन कर नया चोला मिलता है, नये प्राण प्राप्त होते है। सर्वसेवा सघ ने अच्छा किया कि उनके विस्तृत प्रवचन-समूह मे से चुनकर कुछ रत्न हमारे सामने रख दिये—यद्यपि व्यक्तिगत रूप से मै समझता हूँ कि विनोबा जब बोलते है तो जीवन ही उगलते है, मरण के अन्धकार पर एक नवीन दीप-शिखा सी उनकी वाणी छा जाती है इसलिए उनके प्रवचनो मे से चुनाव करना कठिन है, धारा को काटा नही जा सकता है फिर भी निर्मला बहिन ने इस कार्य मे एक सीमा तक सफलता प्राप्त की है। इन पुस्तको का वाचन प्रत्येक क लिए श्रेयस्कर है।

राजनीति से लोकनीति की ओर—प्रकाशक—सर्व सेवा सघ प्रकाशन राजघाट, काशी। डबल क्रौन १२८। मूल्य आठ आने।

भारतीय स्वातत्र्य के पश्चात् बापू जी ने कहा था—"अब हिन्दुस्तान को शहरो और कस्बो म अपना ध्यान हटाकर सात लाख गावो के लिये सामाजिक, नैतिक और आर्थिक स्वतन्त्रता प्राप्त करनी है।" इसीलिए उन्होंने काग्रेस को सलाह दी थी कि वह सत्ता की राजनीति का त्याग कर वास्तविक लोक-सेवा मे अपने को निमग्न कर दे। काग्रेस उनकी इस क्रांतिकारी विचारधारा पर नही चल सकी, पर सर्व-सेवा सघके तत्त्वधान में उनकी जीवन दृष्टि मे विश्वास रखने वालो ने मानवता की वह जय-यात्रा जारी रखी है। इस छोटी पुस्तिका से सर्वोदय विचार-धारा की प्रगति का पता चलता है इसलिए उसकी प्रामाणिक जानकारी के लिए इस पुस्तिका का अध्ययन आवश्यक एवं उपयोगी है।

मिश्रजी की इन्दिरा

'इन्दिरा' को देखा तो जीवन के अतीत के विस्मृत पन्ने मानो फिर बोल उठे। भूलकर भी जिन्हे भूल नही पाता हूँ ऐसी स्मृतियो की एक लबी मजिल जिन बिन्दुओं मे, जिन छाया-मूर्तियो मे करवट लेती है, जगदीशप्रसाद जी उनमें से एक है। गाधी के असहयोग के साथ जो भार-

तीय जागरण आया, वह राष्ट्र के विराट जीवन में एक ज्वार की भाँति आया था। हम तरंगों पर झूलते, मानो अपनी ही आत्म-चेतना के समुद्र में, डूबते-उतराते बह रहे थे। पर ज्वार जब जरा पीछे हटा तो हमने देखा कि तट पर अपने सहस्र सहस्र उपहार छोड गया है। जिन्होंने आधुनिक युग में हिन्दी साहित्य का शृंगार किया और अपनी साधना से उसकी काया में प्राण-प्रतिष्ठा की, वे सब भारतीयआत्मा, प्रसाद, पत, निराला, महादेवी, और भी अनेक, गांधी युग के ज्वार में ही हमारे सामने आये थे। सभी प्राणो मे एक नशा, आखो मे कुतहल लिये, हमारी तरह ही यह क्या हो रहा है, इसे न समझते हुए भी समझनेवाले। यौवन की देहरी पर दीप जलाये एक युवक भारती के मंदिर की ओर देख रहा था। जहाँ था वही मानो उसका पूजास्थल हो, ऐसे वह अपने मे ही डूबा मातृमूर्ति पर कलियां चढाने लगा। बहुत करके यही दशा, अधजागी, अधसोई, हम सबकी थी, इसीलिए हमने उसे देखा और बाहो मे भर लिया। यही जगदीशप्रसाद मिश्र थे। हमारी साधना और पूजा के साथी, यौवन के स्वप्नो के साथी! जवानी की महत्त्वाकांक्षाओ और उमगो के साथी, जिस आत्मनिवेदन मे ही मानव अपने को खोता भी है और पाता भी है, उसके साथी। और हमारी उडती हुई कलम के साथी——कलम के जिसका पृष्ठ भाग पृथ्वी की ओर था पर जो लिखनी आकाश की छाती पर थी।

मैं बहुत स्मरणशील हो उठा हूँ। कदाचित् समालोचना के लिए यह मनोदशा उचित नही। कम से कम साहित्य की सट्टी जिनके तराजुओ से आतंकित है, उनका तो यही मत है। पर मतों के बावजूद, अपने बावजूद, जो कुछ प्राण का, जीवन का ही बन गया है। उसकी याद जब उठती है तो इसी प्रकार नपे-तुले किनारो के कगार ढहते जाते हैं और नाप के पात्रो के सिर पर तूफान चढकर बोलता है——सो वही आज भी बोल उठा है।

हाँ, तो यह इन्दिरा है। जगदीशचन्द्र मिश्र का एक छोटा उपन्यास। मिश्र जी उस तूफानी युग के बाद कहाँ वन-वास कर रहे थे, इससे गरज नही क्योंकि वर्षों बाद, शायद युगो बाद, हमने फिर उन्हे पाया है। यही क्या कम है। यह उपन्यास उसी युग में लिखा हुआ, कही पडा था। अब छपकर सामने है। मानो जो जमाना बीत गया था, वह काल के लम्बे व्यवधान को लाँघकर फिर हमारे बीच आ गया है। इसलिए कि 'इंदिरा' १९५६ में छपकर भी १९२५ का ही उपन्यास है।

जिन समस्याओ को वह सामने रखता है, वे मानव हृदय की शाश्वत समस्याएँ हैं——वे आज भी नयी है पर उन समस्याओ की सेटिंग——सज्जा——पुरानी है। हिन्दू समाज की परम्पराओ पर भी आज नयी कलमें लगायी जा रही हैं, परिस्थिति तेजी से बदल रही है, इसलिए आज का उपन्यासकार शायद इन समस्याओ के प्रति कुछ भिन्न व्यवहार करता। तब इंदिरा का अंत कुछ दूसरे ढंग पर होता। इसीसे कहता हूँ वह आज की कृति नहीं है। आज के लिए पुरानी है।

पर प्राचीन होकर भी वह नवीन है। व्यतीत होकर भी वह जीवित है क्योंकि समय ने केवल इंदिरा की साडी, सलवार और ब्लाउज की काट बदल दी है, इंदिरा के प्राण, इंदिरा की व्यथा-वेदना, इंदिरा की पूजा और इंदिरा के जीवन में समाई मूर्ति की चेतना——यहाँ तक कि

उसकी तीर्थयात्रा आज भी वैसी ही है। वह विस्मृति और प्रणति, वह मौन और निवेदन, वह दूर जाकर भी निकटता की सिद्धि, वह मृत्यु की गोद में जीवन का रास सब कुछ आज भी वैसा ही है। मानता हूँ कि अपने को अस्वीकार---डिनाई---करनेवाली नारियों की बढ़ती हुई आबादी के झुण्ड में भी एक ही इंदिरा का स्वर मानो सब पर छा जाता है---अल्पमत होकर भी मानो नारी हृदय का वही चिरन्तन बहुमत है।

इसलिए इंदिरा एकाकी होकर भी एकाकी नहीं है और अन्तकरण तथा मज्जा के अन्तराय से वह सर्वत्र प्राप्य है।

इंदिरा की कथावस्तु एक क्षुद्र बिंदु से उभरकर फैल गयी है। जल-धारा में दूरागत एक कंकड़ जैसे स्वयं समा जाता है पर चोट से उठनेवाली परिधि बढ़ती ही जाती है---वैसे ही क्षुद्र घटना अपने गर्भ में अनेक घटना पीढ़ियों की रचना करती चलती है। पात्रों और परिस्थितियों के संघर्ष में कहानी बढ़ती जाती है, अन्तर्द्वन्द्व में चरित्र उभरते जाते हैं, घटनाओं के प्रवाह में, गिरता और उठता, मानव चल रहा है। इन्दिरा की यही सरलता ---यही सहज आकलन उसकी विशेषता है। लेखक ने प्रेमा, इंदिरा और दर्शन नारी के हृदय के त्रिविध रूप हमारे सामने रख दिये हैं। कहने का ढंग रोचक और शैली चुटीली है।

और पूरा उपन्यास पढ़ जाने पर उसके अन्तराल से मन के अन्दर तीखे व्यंगों में कसमसाते प्रश्न उठते हैं---क्या है दोष प्रेमा का? क्या है दोष इंदिरा का? और क्या सुखबीर से इंदिरा का विवाह करने की अनुमति देकर उसके माता-पिता इस समस्या का निराकरण कर पाते, जैसा लेखक का मौन इंगित है? मेरा कहना है कि समस्याओं के कोई हल नहीं होते, स्वयं छद्मवेशी समस्याएँ हो जाते हैं क्योंकि जीवन की विराटता को गणित के प्रमेयों में नहीं समेटा जा सकता। हलों के बावजूद इंदिराएँ होंगी, प्रेमाएँ होंगी। हाँ, 'दर्शन' की निस्संगता में, जीवन के प्रति उसके सहज बहाव में हमें प्रकाश की एक किरण मिलती है।

जो हो, हम साहित्य में मिश्र जी के पुनर्जीवन का हार्दिक स्वागत करते हैं। वे हमें १९५७ के मानव का भी दर्शन देंगे---इस आशा के साथ ---श्रीरामनाथ 'सुमन'

एटम, हमारे जीवन में (हिन्दी)---मूल लेखक---मार्गरेट ओ० हाइड (Margaret o Hyde), अनुवादक---श्री बालकृष्ण एम० ए०, प्रकाशक---राजपाल एण्ड सन्ज़, दिल्ली, मूल्य ३) रु०।

मार्गरेट ओ० हाइड द्वारा अंग्रेजी भाषा में लिखित पुस्तक 'Atoms Today and Tomorrow' एक लोकप्रिय पुस्तक है। इसी पुस्तक का हिन्दी रूपान्तर वर्तमान पुस्तक है।

संसार आज एक वैज्ञानिक युग के बीच से गुजर रहा है। विज्ञान ने मनुष्य के जीवन को तथा उसके दृष्टिकोण को एकदम बदल दिया है। आज मनुष्य के वैयक्तिक तथा सामाजिक जीवन का कोई भी ऐसा अंग नहीं है जिस पर विज्ञान की छाप न हो। भविष्य में हमारे जीवन में विज्ञान द्वारा क्या-क्या परिवर्तन हो जायँगे इसकी पूरी कल्पना भी इस समय कर सकना संभव नहीं है।

परमाणु से ऊर्जा प्राप्त करने की विधि ज्ञात कर मनुष्य ने एक ऐसी प्रबल शक्ति प्राप्त की है जिसके द्वारा वह क्या आश्चर्यजनक कार्य भविष्य मे कर सकेगा यह सब हमारी कल्पना के परे है किन्तु इतना हर एक मनुष्य अब अवश्य अनुभव करने लगा है कि मनुष्य के लिए ऐसे कार्यों को कर सकना, जिनकी हम कभी कल्पना भी नही कर सकते, सभव है।

परमाणु-ऊर्जा की विनाशक शक्ति की चर्चा आज संसार के कोने-कोने मे है और प्रबल राष्ट्र तथा निर्बल राष्ट्र दोनो के ही लोग यह समझते है और आशंकित है कि यदि परमाणु-ऊर्जा का उपयोग विनाशक कार्यों के लिए रोका न गया तो कोई आश्चर्य नही कि भविष्य मे ससार से मनुष्य के अस्तित्व का ही लोप हो जाय। परमाणु-ऊर्जा की खोज ने मनुष्य को एक ऐसे मोड पर खडा कर दिया है जहाँ से वह या तो निर्माण की दिशा मे पग बढा सकता है या पूर्ण विनाश की दिशा मे।

परमाणु-ऊर्जा क्या है और कैसे प्राप्त की जाती है, यह विज्ञान का एक गहन विषय है। इस विषय को सरलतम रूप मे इस पुस्तक मे रखा गया है जिससे जन साधारण भी उस सम्बन्ध की आधारभूत बातो को समझ सके। एक ओर जहाँ परमाणु-ऊर्जा का उपयोग विनाशक कार्यो के लिए किया जा सकता है वहाँ दूसरी ओर उसका उपयोग अनेकों उपयोगी तथा जनहित कार्यों में भी हो सकना सभव है। परमाणु-ऊर्जा के सभी सभव हो सकने वाले उपयोगों की चर्चा सरल ढग से की गयी है। जनसाधारण को इस विषय का प्रारम्भिक ज्ञान कराने में यह पुस्तक निस्सं-देह उपयोगी है।

महान आविष्कारक एडीसन (हिन्दी) —मूल लेखक—जी० ग्लेनवुड क्लार्क (G glenwood clark), अनुवादक, विराज एम० ए० प्रकाशक—राज्यपाल एण्ड सन्ज, दिल्ली, मूल्य २।।) रु०

यह पुस्तक श्री जी० ग्लेनवुड क्लार्क द्वारा लिखित अंग्रेजी पुस्तक 'Thomas Adva Edison का हिन्दी अनुवाद है।

एडीसन का नाम ससार के इतिहास मे उसके आविष्कारो के कारण अमर है। एडीसन ने ससार को अनेको आविष्कार दिये। इन सब आविष्कारो मे बिजली के बल्ब के आविष्कार तथा ग्रामोफोन और चलचित्र के आविष्कारो ने मनुष्य के जीवन को ही बदल दिया। वर्तमान वैज्ञानिक युग की भित्ति को मजबूत बनाने में इन आविष्कारो का बडा भारी हाथ है।

एडीसन का जन्म एक निर्धन परिवार में हुआ था। वह अपने परिश्रम और लगन से किस प्रकार ऊपर उठे यह प्रत्येक बालक के लिए एक अनुकरणीय आदर्श है। जन्म से लेकर अन्तिम समय तक की एडीसन की पूरी जीवनी इस पुस्तक में एक कहानी के रूप मे लिखी गयी है जिसने पुस्तक को इतना रोचक बना दिया है कि एक बार इसे आरम्भ करने पर बिना समाप्त किये छोडने का मन नही करता।

पुस्तक का अनुवाद बहुत सुन्दर हुआ है। इसकी भाषा सरल और रोचक है। साथ ही छपाई भी सुन्दर और शुद्ध है।

यह पुस्तक अपनी रोचकता तथा उपयोगिता के कारण अवश्य ही विद्यार्थियों को प्रिय लगेगी।

—डा० सन्तप्रसाद टण्डन, एम-एस० सी०

भूदान-यज्ञ : क्या और क्यों ? लेखक—श्री चारुचंद्र भंडारी, अनुवादक—श्री विद्याभूषण वर्मा 'श्री रश्मि' प्रकाशक—अखिल भारत सर्व सेवा संघ, राजघाट काशी। पृष्ठ संख्या २८०। दिसंबर १९५६। मूल्य १)।

श्री चारुचन्द्र भंडारी की बंगला 'भूदान-यज्ञ कि और केन' का यह पुस्तक हिन्दी रूपांतर है। पुस्तक सर्वप्रथम बंगला में प्रकाशित हुई थी। आचार्य विनोबा भावे ने इस पुस्तक को पढ़कर श्री भंडारीजी को लिखा था 'आपने हमारे आन्दोलन के बुनियादी विचारों का बहुत ही अच्छे ढंग से विवरण दिया है। पुस्तक मुझे सर्वांगपूर्ण मालूम हुई। भूदान-यज्ञ के संबंध में हिन्दी में यह निस्सन्देह सर्वोत्तम पुस्तक है। भारत में आजकल एक नये युग का आरंभ हो रहा है। उसमें आर्थिक, सामाजिक आदि जीवन के सभी क्षेत्रों में सामूहिक अहिंसा-सिद्धान्त के प्रसार और विकास के प्रयत्न चल रहे हैं। भूदान-यज्ञ भी एक ऐसा ही प्रयत्न है। इस पुस्तक के भूदान-यज्ञ के संबंध में प्रायः सभी आवश्यक सामग्री बड़े अच्छे ढंग से सरल भाषा में एकत्रित कर दी गयी है। इस उत्तम पुस्तक लिखने के लिये हम विद्वान लेखक को बधाई देते हैं और आशा करते हैं कि देश प्रेमी सज्जन इस पुस्तक से अवश्य लाभ उठाने का प्रयत्न करेंगे।

क्रांति की भावना—लेखक—प्रिंस क्रोपाटकिन, संपादक—श्री बनारसीदासजी चतुर्वेदी, प्रकाशक सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली। १९५६। पृष्ठसंख्या २०८। मूल्य अढ़ाई रुपया।

प्रिंस क्रोपाटकिन रूस के एक महान क्रांतिकारी विचारक थे। वे विचारों में क्रांति चाहते थे और ऐसे समाज की रचना करने के अभिलाषी थे, जिसमें कोई किसी का शोषण न करे और सब प्रेमभाव से रहें। इस पुस्तक में प्रिंस क्रोपाटकिन के निम्नलिखित लेखों का हिन्दी रूपांतर दिया गया है —क्रांति की भावना, क्रांतिकारी सरकार, नीति और जीवन, अराजकता, जेल और उसका नैतिक प्रभाव, कानून और सत्ता, सबका सुख, जेल से भागना। पुस्तक के आरंभ में पंडित बनारसीदास जी चतुर्वेदी ने प्रिंस क्रोपाटकिन का रेखा-चित्र दिया है जो बहुत महत्वपूर्ण है। श्री चतुर्वेदी जी ने यह विश्वास प्रकट किया है कि 'स्वाधीनता का यह अद्वितीय पुजारी युग-युगांतर तक अमर रहेगा। उसका व्यक्तित्व हिमालय के सदृश महान और आदर्शवादिता गौरीशंकर शिखर की तरह उच्च है।' प्रत्येक देशप्रेमी सज्जन को इस महान विचारक के विचारों से अवश्य लाभ उठाना चाहिए।

पुस्तक की छपाई अच्छी है परंतु इसका मूल्य कुछ अधिक मालूम होता है। जब दूसरे प्रकाशक २८० पृष्ठों की पुस्तक एक रुपये में प्रकाशित कर सकते हैं तब सस्ता साहित्य मंडल को २०८ पृष्ठों की पुस्तक के लिये अढ़ाई रुपया लेना 'सस्ता' नहीं कहा जा सकता।

हमारा कानून—लेखक—श्री एस० रामस्वामी अय्यर, अनुवादक—श्री महावीरदास जैन, प्रकाशक—सस्ता साहित्य मडल, नई दिल्ली। सजिल्द पृष्ठसख्या ३७२। मूल्य पाँच रुपये।

इस पुस्तक मे भारतीय विधि-विधान की सरल जानकारी देने का सफल प्रयास किया गया है। यह पुस्तक श्री एस० रामस्वामी अय्यर की अग्रेजी पुस्तक 'एवरी बडीज बुक आफ ला' का सरल हिन्दी रूपांतर है। इस पुस्तक से भारत के स्वतंत्र नागरिक यह अच्छी तरह से जान सकते हैं कि उनके अधिकार और कर्तव्य क्या हैं और यदि वे अपने कर्तव्यो का पालन ठीक ढंग से न करे या अधिकारो की सीमा का उल्लघन करे तो उन्हे क्या दड भोगना पडेगा। इस पुस्तक से कानून के बुनियादी उसूलो की शिक्षा कोई भी व्यक्ति आसानी से प्राप्त कर सकता है। इस पुस्तक के मुख्य अध्याय हैं —भारत का सविधान, अधिकार और कर्तव्य, न्याय प्रशासन, अपराध और दड, अपराध की रोक, सविदा (Contract) सपत्ति, वाणिज्य तथा उद्योग, पारिवारिक कानून, भूमि कानून, सपदा शुल्क, न्यायालयो की प्रक्रिया, अतर्राष्ट्रीय कानून इत्यादि। इस पुस्तक मे भारतीय कानूनो को ज्यो का त्यो न देकर उनका सार ही दिया गया है, इससे जन साधारण को कानूनी बाते समझने मे बहुत सुविधा होगी। जिन व्यक्तियो ने भारतीय कानून का विशेष रूप से अध्ययन नहीं किया है, उनको भारतीय कानूनो का परिचय इस पुस्तक से अवश्य प्राप्त कर लेना चाहिए। प्रत्येक पुस्तकालय मे इस पुस्तक की एक प्रति अवश्य होनी चाहिए।

कटेंपररी इडियन लिटरेचर (Contemporary Indian Literature)—प्रकाशक —साहित्य अकादमी, नई दिल्ली, पृष्ठसख्या २९९। मूल्य अढाई रुपये। जनवरी १९५७ मे प्रकाशित।

भारत सरकार ने सन् १९५४ मे साहित्य अकेडेमी की स्थापना की है। इसके अध्यक्ष पडित जवाहरलाल जी नेहरू और उपाध्यक्ष डाक्टर राधाकृष्णन हैं। इसका प्रधान कार्य भारतीय भाषाओ के साहित्यिक कार्यो को प्रोत्साहित करना है।

समालोच्य पुस्तक इसी अकेडमी द्वारा अग्रेजी मे अभी प्रकाशित हुई है। इसमें भारत, की प्रधान १४ भाषाओ (आसामी, उडिया, उर्दू, कन्नड, कश्मीरी, गुजराती, तामिल, तेलगू, बगला, पजाबी, मलयालम, मराठी, सस्कृत और हिन्दी) तथा अग्रेजी मे आधुनिक साहित्य की प्रगति का दिग्दर्शन कराया गया है। प्रत्येक भाषा के लिये एक विशेषज्ञ लेखक चुन लिया गया है और उसने अपनी भाषा के सबध मे साहित्यिक प्रवृत्तियो का निर्देश दिया है और यह बतलाया है कि गद्य और पद्य मे किस दिशा में कितनी प्रगति हुई है।

इस सकलन मे सबसे बडा लेख श्री वी० राघवन का सस्कृत साहित्य के सबध में है सक्षेप मे सस्कृत साहित्य का इतिहास देते हुए विद्वान् लेखक ने सस्कृत के वर्तमान साहित्य की प्रगति का अच्छा दिग्दर्शन किया है। इसमे विज्ञान के सबध मे जो सस्कृत में साहित्य प्रकाशित हुआ है उसका भी वर्णन है।

अंग्रेजी साहित्य के संबंध में लेख श्रीयुत के० श्रीनिवास अयंगर का है। इसमें भारतीय लेखकों द्वारा अंग्रेजी के प्रकाशित साहित्य का संक्षिप्त वर्णन है।

हिन्दी के संबंध में निबंध श्री सच्चिदानन्द हीरानंद वात्स्यायन जी ने लिखा है। आपने छायावाद, प्रगतिवाद और प्रयोगवाद पर अच्छा प्रकाश डाला है और नयी कविता के संबंध में अपने विचार प्रकट किये हैं।

इस पुस्तक से भारत की प्रत्येक प्रधान भाषा के साहित्य की वर्तमान दशा के संबंध में अच्छी जानकारी प्राप्त होती है। परन्तु इस पुस्तक से इस बात का पता नहीं लगता कि विज्ञान, अर्थशास्त्र, राजनीति, भूगोल, दर्शन इत्यादि विषयों के साहित्य के संबंध में भारत की प्रत्येक भाषा में वर्तमान समय में क्या प्रगति हुई है। अगले संस्करण में इस कमी को दूर करने का प्रयत्न होना आवश्यक है। आशा है, देशप्रेमी सज्जन इस पुस्तक का उचित आदर करेंगे।

इस पुस्तक से अंग्रेजी जाननेवाले थोड़े व्यक्ति ही लाभ उठा सकते हैं। यदि भारत सरकार द्वारा यह पुस्तक हिन्दी और अन्य भारतीय भाषाओं में प्रकाशित की जाती तो भारतवासियों को अधिक लाभ होता। भारत सरकार को इस प्रकार की पुस्तक हिन्दी में तैयार कराने और प्रकाशित करने का भार सर्वमान्य अखिल भारतवर्षीय संस्था हिन्दी साहित्य सम्मेलन को ही दे देना चाहिये।

—दयाशंकर दुबे, एम० ए०, एल-एल० बी०

उर्दू-साहित्य का सरल इतिहास—लेखक—श्री प्रतापनारायण टंडन, एम० ए०, "साहित्यरत्न", प्रकाशक—विद्यामंदिर, रानी कटरा, लखनऊ, पृष्ठसंख्या १६८, मूल्य—दो रुपया आठ आना।

इधर दो-तीन वर्षों के बीच हिन्दी में उर्दू-साहित्य के कई छोटे-बड़े इतिहास प्रकाशित हुए हैं। टंडनजी की प्रस्तुत रचना उसी दशा में, एक प्रयास है। इसमें टंडन जी ने उर्दू भाषा, उसकी उत्पत्ति एवं विकास, उसमें प्रयुक्त छंद, उसमें मर्सिया का स्थान और उसके गद्य-साहित्य पर विचार किया है। संक्षिप्त टिप्पणियों के रूप में रेख्ती, गज़ल, शेर, काफ़िया-रदीफ आदि की परिभाषाएँ देने के साथ-साथ उर्दू के प्रसिद्ध कवियों का चलती भाषा में उल्लेख है और उनकी रचनाओं के नमूने हैं। पुस्तक के अध्ययन से ज्ञात होता है कि टंडन जी ने इसमें लखनऊ के कवियों को ही विशेष महत्त्व दिया है। लखनऊ के नवाब उर्दू-प्रेमी थे और उन्होंने उर्दू-कवियों को आश्रय देकर उर्दू-साहित्य की बहुत उन्नति की। 'नासिख', 'आतिश', 'अनीस', 'दबीर' आदि उर्दू-कवियों ने नवाबों की छत्र-छाया में रहकर उर्दू-काव्य को पूर्णता प्रदान की। 'मसनवी' और 'मर्सिया' उर्दू-काव्य को उनकी मौलिक देन है। इन काव्य-शैलियों के अतिरिक्त उन्होंने 'गज़लों' और 'रुबाइयों' की भी रचना की। यदि अपनी इस छोटी पुस्तक में टंडन जी ने केवल लखनऊ के कवियों तक ही अपने विषय को सीमित किया होता तो उर्दू के साथ-साथ हिन्दी पाठकों को भी लाभ होता। इससे कम से कम एक अभाव की पूर्ति अवश्य हो गयी होती। परन्तु उर्दू-साहित्य के सागर को गागर में भरने की चेष्टा करने के कारण वह अपनी इस रचना में अधिक सफल नहीं हो सके हैं। उर्दू

भाषा के जन्म और उसके विकास के संबध मे उन्होने अपने जो विचार व्यक्त किये हैं उनमें मौलिकता नहीं है। भाषा का रूप सर्वत्र एक-सा नही है। कही सस्कृत गर्भित भाषा है तो कहीं फारसी के तत्सम शब्दो से प्रभावित। प्रूफ की भी अशुद्धियाँ हैं। इतना अवश्य है कि सरसरी तौर पर इससे उर्दू-साहित्य के इतिहास की एक सरल झांकी देखने को मिल जाती है। इस दृष्टि से हिन्दी पाठकों के बीच इसका आदर होना चाहिए।

महादेवी और उनका आधुनिक कवि—लेखक—प्रो० सुरेशचन्द्र गुप्त, एम० ए०, देशबन्धु कालेज, कालका जी, नई दिल्ली, **प्रकाशक**—हिन्दी साहित्य ससार, नई सडक दिल्ली, **आकार**—[डिमाई अठपेजी, **पृष्ठसंख्या**—३०४, सजिल्द, **मूल्य**—सात रुपया आठ आना।

हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, प्रयाग की 'साहित्य-समिति' के तत्त्वावधान में प्रकाशित 'आधुनिक कवि' मे महादेवीजी की चुनी हुई रचनाएँ सगृहीत है। इन रचनाओ के सबध मे महादेवीजी ने स्वय अपना दृष्टिकोण व्यक्त किया है। यही इस सग्रह की विशेषता है। यह सग्रह सम्मेलन की परीक्षाओ के पाठचक्रम मे है। इसलिए हिन्दी-विद्यार्थी के लिए इसका और भी अधिक महत्त्व है। महादेवी वर्मा छायावाद-युग की प्रमुख कवयित्री है और यह अपने वर्ग का सफल नेतृत्व करती है। हिन्दी के शैलीकारो मे भी उन्होने अपना उच्च स्थान बना लिया है। उनके रेखाचित्र, उनके सस्मरण, उनके आलोचनात्मक निबध सब हिन्दी-गद्य के शृंगार है। यही कारण है कि उनकी रचनाओके सबधमे आए दिन नयी-नयी आलोचना पुस्तके प्रकाशित होती रहती हैं। प्रस्तुत पुस्तक इसी दिशा में एक नवीन प्रयास है। इसमे तीन खण्ड है। **प्रथम खण्ड** के लेखक हैं प्रो० सुरेशचन्द्र गुप्त एम० ए०। गुप्त जी ने महादेवी जी से सबंधित विषयो को ग्यारह अध्यायो में विभाजित किया है और उनपर आलोचनात्मक दृष्टि से विचार किया है। उनके विषय है—महादेवी जी का व्यक्तित्व, उनकी भाव-धारा, उनका काव्य-शिल्प, उनका रहस्यवादी काव्य, उनकी छायावादी काव्यचेतना, उनका गीतिकाव्य, उनका प्रकृति-चित्रण, उनकी अनुभूति, चिन्तन और कल्पना, उनका वेदना-भाव, अन्य छायावादी कवियो से उनकी तुलना और अन्त में उनके 'आधुनिक कवि' भाग १ पर परिचयात्मक एक निबंध। इस प्रकार गुप्त जी ने 'आधुनिक कवि' की रचनाओ के लिए एक सुदृढ पृष्ठभूमि तैयार कर दी है। जिसके अध्ययन से विद्यार्थियो की अनेक कठिनाइयाँ दूर हो जाती हैं। विशेषता यह है कि गुप्तजी ने महादेवीजी की काव्य-विभूतियो से संबंध रखनेवाले प्रत्येक विचार-बिन्दु को क्रम से स्थान दिया है और उसकी सरलतम ढग से व्याख्या की है। उनकी विश्लेषण-पद्धति अत्यन्त सुन्दर, उपयुक्त और वैज्ञानिक है। उनकी शैली एक अध्यापक की शैली है जो उनकी आलोचनात्मक शक्ति का बल पाकर और भी सजग हो उठी है। महादेवीजी के काव्य से सबंध रखनेवाले प्रत्येक मुख्य विषय को उन्होने अपनी आलोचना में स्थान दिया है और विद्यार्थियो के लिए उसे उपयोगी बनाया है।

पुस्तक के दूसरे खण्ड मे 'आधुनिक कवि' में सगृहीत महादेवीजी की कविताओ की व्याख्या है। व्याख्याकार हैं—सुश्री उर्मिला कुमारी एम० ए० और श्री रामकुमार सांख्यधर, साहित्य

रत्न। इन व्याख्याकारो ने जिस नवीन ढग से महादेवी जी की रचनाओ की व्याख्या की है वह अत्यन्त प्रशंसनीय है। छायावादी कवियो की रचनाओं के मर्म को विद्यार्थियों के मस्तिष्क में उतारना सब का काम नही है। आलोचक प्राय अध्यापक नही होता और अध्यापक प्रायः आलोचक नही होता। हिन्दी का वही अध्यापक सफल हो सकता हे जिसके व्यक्तित्व में दोनो का उचित समन्वय हो। हमें यह देखकर प्रसन्नता होती है कि व्याख्याकारो के व्यक्तित्व में स्वयं समझने और दूसरो को समझाने की अद्भुत क्षमता है। उन्होने महादेवी जी के प्रत्येक पक्ति की अत्यन्त सुन्दर और उपयुक्त व्याख्या की है। प्रत्येक कविता की व्याख्या करने के पूर्व 'अवतरण' के अन्तर्गत मुख्य विचार-सूत्र का सदर्भात्मक परिचय है। इसके पश्चात् उस कविता की सरल व्याख्या है और अन्त मे उस व्याख्या पर आधारित विशेष वक्तव्य। इस प्रकार की व्याख्या से हिन्दी-विद्यार्थियो का हित होगा और वे हिन्दी के छायावादी कवियो के विशेष सपर्क में आ सकेंगे—ऐसा मुझे विश्वास है।

तृतीय खण्ड मे परिशिष्ट के अन्तगर्त प्रतीकात्मक शब्द सूची है। अध्ययन की दृष्टि से इसका भी विशेष महत्त्व है । मै इस पुस्तक का हृदय से स्वागत करता हूँ।

राजेन्द्र सिंह गौड, एम० ए०

कवि निराला और उनका काव्य-साहित्य—लेखक—श्री गिरीशचन्द्र तिवारी, प्रकाशक—साहित्य भवन (प्राइवेट) लिमिटेड, इलाहाबाद, पृष्ठसख्या १९७, मूल्य सजिल्द ३)

प्रस्तुत पुस्तक एम० ए० की परीक्षा के लिए निबन्ध के रूप में लिखी गयी है। प्रबन्ध लिखने के क्षेत्र में लेखक का प्रथम प्रयास है, अतएव इसमे कुछ त्रुटिया रह जायँ, यह स्वाभाविक ही है। यो तो निराला-साहित्य पर अबतक काफी लिखा जा चुका हे लेकिन इस पुस्तक में उनके काव्य-साहित्य पर ही प्रकाश डाला गया है। निराला काव्य के तीन युग शीर्षक अध्याय के अन्तर्गत लेखक ने कवि को छायावादी, प्रगतिवादी और प्रयोगवादी सिद्ध किया है। उनकी रचनाओं, उनकी भाषा-शैली तथा कुछ भारतीय एव पाश्चात्य कवियो के उद्धरण एव लेखको के लेख से अश उद्धृत कर पुस्तक का कलेवर सजाया गया है।

लेखक ने कवि के सभी महत्त्वपूर्ण गीतो की आलोचना की है। पुस्तक के पढ़ने से उनके काव्य की गम्भीरता नही मालूम पडती।

लेखक की भाषा मे अभी वैसा प्रवाह नही आ पाया है जैसा होना चाहिए। कुछ शब्दो का प्रयोग अनावश्यक प्रतीत होता है। कही-कही या तो शब्द छूट गये है या त्रुटियाँ रह गयी हैं, फिर भी निराला जी की जीवनी, उनकी काव्य-रचनाओ, वादो, उनकी भाषा-शैली-छंद, प्रवृत्ति एवं अन्य विशेषताओ के जिज्ञासु पाठको को इस पुस्तक के अध्ययन से सहायता मिलेगी। लेखक का यह प्रयत्न सराहनीय है। पुस्तक का कवर आकर्षक एवं सुन्दर है।

हिन्दी साहित्य का इतिहास—लेखक—प्रो० भारतभूषण, 'सरोज' एम० ए०, साहित्यरत्न, प्रकाशक—हिन्दी साहित्य संसार, नई सडक, दिल्ली; मूल्य, ढाई रूपये अथवा ढाई सौ नये पैसे।

इस पुस्तक में हिन्दी साहित्य का इतिहास 'प्रश्नोत्तर रूप में' लिखा गया है। इतिहास के कालों के विषय में चुने हुए प्रश्न तथा उनके उत्तर लिखे गये हैं। प्रश्नों का चुनाव छात्रों के दृष्टिकोण से किया गया है, फिर भी कुछ आवश्यक प्रश्न रह गये हैं। कबीर और जायसी के तुलनात्मक रहस्यवाद के विषय में प्रश्न न रहना, कुछ खटकता है। इसमें सन्देह नही कि लेखक ने प्रश्नों के उत्तर में सावधानी, सतर्कता एव विद्वत्ता से कार्य किया है। लेखक की शैली में विश्लेषण का अभाव नही है। कवियो एवं लेखको का मूल्यांकन तर्कसंगत ढंग से किया गया है। विवाद-पूर्ण प्रश्नो के उत्तर में अधिकारी विद्वानो की राय देकर पुस्तक के महत्त्व को बढ़ा दिया है। काव्य के विभिन्न वादो—रहस्यवाद, छायावाद, प्रगतिवाद तथा प्रयोगवाद का सक्षेप में विद्वत्तापूर्ण ढग से वर्णन किया गया है। प्रस्तुत पुस्तक परीक्षार्थियो के लिए तो उपयोगी है ही, हिन्दी साहित्य के इतिहास के साधारण पाठकों के लिए भी रुचिकर है, इसमे दो मत नही हो सकते। पुस्तक के अन्त मे कौन-सा प्रश्न कब, किस परीक्षा में पूछा गया परिशिष्ट मे दे दिया गया है। इससे छात्रो को प्रश्नो का स्टैन्डर्ड भी जानने में अत्यन्त सरलता होगी। लेखक का प्रयास स्तुत्य है।

पुस्तक की छपाई एव गेटअप सुन्दर तथा आर्कषक है।

हिन्दी गद्य का विकास—लेखक—श्री यज्ञदत्त शर्मा, प्रकाशक—राजपाल एन्ड सन्ज, काश्मीरी गेट, दिल्ली, मूल्य सजिल्द २)

प्रस्तुत पुस्तक में लेखक ने हिन्दी गद्य की विविध विधाओ—नाटक, एकाकी नाटक, उपन्यास, कहानी, निबन्ध, आलोचना, जीवनी का विश्लेषण किया है। प्रारम्भ में हिन्दी गद्य का प्रारम्भ और परिमार्जन कैसे हुआ, इस पर प्रकाश डाला है। इसमे सदेह नही कि इस पुस्तक मे कुछ लेखको एव कुछ कृतियो का परिचय छूट गया है। उपन्यास साहित्य का विकास की अपेक्षा, नाटक साहित्य का विकास को कम स्थान मिला है। श्री लक्ष्मीनारायण मिश्र आदि के विषय में और भी विचार करने की आवश्यकता थी, केवल नाटककारो की कृतियो को ही लिख देना उचित नही। हो सकता है कि स्थानाभाव के कारण ऐसा न कर सकें हो। डा० रामकुमार वर्मा के हाल मे प्रकाशित एकाकी नाटको का उल्लेख तक भी नही है। आशा की जाती है कि दूसरे सस्करण में यह कमी न रह जायगी। लेखक का प्रयास सराहनीय है। हिन्दी गद्य का विकास जानने के लिए पुस्तक उपयोगी है।

छात्र-वर्ग मे पुस्तक विशेष लोक-प्रिय होगी—ऐसी आशा है।

—कृष्णनारायण लाल, एम० ए०

संत-कवि दरिया : एक अनुशीलन—लेखक–डॉ० धर्मेंद्र ब्रह्मचारी शास्त्री ; प्रकाशक–बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, पटना, प्रकाशन–१९५४ (प्रथम संस्करण) आकार १०" × ६"; पृष्ठ ५३२ (प्रस्तावना, विषयसूची, मूलग्रंथो के उद्धरण और अनुक्रमणिका सहित) ; मूल्य अजिल्द साढे बारह रुपया, सजिल्द चौदह रुपया ; छपाई, सफाई और कागज उत्तम, अनेक चित्रों, मुहर-दस्तावेजो और नक्शो से सुसज्जित।

हिन्दी साहित्य के क्षेत्र को मौलिक कृतियो के निर्माण से समृद्ध करने में बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना के उल्लेखनीय कार्य अपनी बेजोड़ शान लिये हमारे समक्ष विद्यमान हैं। परिषद् के अनमोल चौबीस ग्रथो में 'सत-कवि दरिया एकअनुशीलन' भी सम्मिलित है। दरिया-ग्रंथावली का यह पहिला ग्रथ है।

इस ग्रंथ के निर्माण का श्रेय डॉ० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी शास्त्री को है। प्रस्तुत पुस्तक को तैयार करने में, उसके आधारभूत बीस हस्तलिखित पोथियो को डाक्टर साहब ने बड़े श्रम से प्राप्त किया है। उनका कथन है कि दरिया साहब के सबध में जो छोटी-मोटी सामग्री प्रकाशित हो चुकी है उसका भी उन्होंने उपयोग किया है। इस ग्रथ के लिए प्रयुक्त सामग्री का पूरा विवरण उन्होंने पुस्तक के प्रस्तावना भाग में दे दिया है। बिहार में आविर्भूत अठारहवी शताब्दी में निर्गुण धारा के प्रमुख विचारक, प्रचारक, कवि, सत, समाजसुधारक और दार्शनिक महात्मा दरिया साहब की जीवनी, उनके सिद्धान्त तथा उनके साहित्य-निर्माण पर यह पहिला बृहत्काय गवेषणापूर्ण ग्रथ है। इस ग्रथ को तैयार करने में डाक्टर साहब ने समय-समय पर विभिन्न अधिकारी विद्वानो का उचित निर्देशन भी प्राप्त किया और उसकी सर्वांगशुद्धि के लिए वे दरिया पथी विद्वान् साधुओ के संपर्क मे भी रहे। इस संबंध में तैयार की गयी अपनी ग्रथ-सामग्री को समय-समय पर दरिया-पथी साधुओ को दिखाकर उनसे वे यथोचित सम्मतियाँ भी प्राप्त करते रहे। इस दृष्टि से पुस्तक की प्रामाणिकता असदिग्ध है।

पुस्तक की पाठ्य-सामग्री पाच खडो में विभाजित है। पहिले खड मे दरिया साहब की जीवनी, उनके पथ का परिचय और उनकी कृतियो का विवरण है। इस खड मे चार परिच्छेद है। दूसरे खड के अठारह परिच्छेदो में दरिया साहब के दार्शनिक सिद्धान्तो एव अध्यात्म सबधी विचारो मे सत्पुरुष, जीव, शरीर, पुनर्जन्म, स्वर्ग-नर्क, माया, ज्ञान, भक्ति, प्रेम संत और सत्सग आदि की मीमांसा की गयी है। तीसरे खंड के तीन परिच्छेदो में उनकी कवित्व प्रतिभा की तुलना हिन्दी साहित्य के प्राणभूत महात्माओ की कृतियो से की गई है। चौथे खड के चार परिच्छेदो मे उनकी कृतियो का काव्यशास्त्र और व्याकरण की दृष्टि से विश्लेषण किया गया है। अत के पांचवें खड के १८४ पृष्ठो मे सत दरिया की कृतियो के मूल उदाहरण, दिये गये है। बाद के ४६ पृष्ठो के परिशिष्ट भाग में भारत के विभिन्न स्थानो मे अधिष्ठित ११२ दरिया पथ के मठो की सूची, सत दरिया के 'ज्ञानरत्न' के साथ 'रामचरित मानस' के प्रसगो की शाब्दिक तथा भावात्मक तुलना, उनकी कृतियो की आये हुए छदो का छदशास्त्र के अनुसार विश्लेषण, अलकार निरूपण और बाद के १७ पृष्ठो मे अनुक्रमणिका है।

पुस्तक के ५३२ पृष्ठो के अतिरिक्त १२ चित्र, ७ मुहर, दस्तावेज और चक्र हैं।

अपनी इस पुस्तक को तैयार करने के लिए डाक्टर साहब को अधिकतर हस्तलिखित पोथियो का आश्रय लेना पड़ा है। हस्तलिखित पोथियों की लेखन-विधियो का अध्ययन करके डाक्टर साहब ने उनकी लिपियो, लेखन-तिथियो और लिपिकारो के विभिन्न बौद्धिक स्तरो एव रुचियो के कारण पाठ-शोधन सबधी कठिनाइयो की ओर सकेत करते हुए स्पष्ट किया है कि पोथी

के शीर्षक भाग से लेकर उसकी विषय सामग्री को भी एक ही पंक्ति मे मिला कर लिखने की लिपि-कारों की प्रवृत्तियो की वजह से अक्षरो, शब्दों, वाक्यांशो को छांटकर अलग करने एव उनका शुद्ध रूप निश्चित करने में बड़ी सूझ-बूझ तथा पर्याप्त स्वाध्याय की आवश्यकता हुई है। उन्होने इस ग्रंथ के लिए दरिया साहब के साहित्य की जिन दुर्लभ हस्तलिपियो और मुद्रित पुस्तकों की सहायता ली है, उसकी बिवरणिका बड़े महत्व की है।

डाक्टर साहब ने अपनी इस पुस्तक में दरिया साहब के ग्रथ की उपलब्ध हस्तलिखित पोथियो में प्रयुक्त शब्दो की परीक्षा करके एव उनके पाठों का विश्लेषण करके निष्कर्ष दिया है कि दरिया साहब की कृतियो पर उनके निवास स्थान भोजपुर का विशेष प्रभाव पड़ा है और दरिया साहब की शिक्षात्मक कविताएँ, सामान्य जनता को, जो अधिकाश अपढ एव अर्धशिक्षित थी, लक्ष्य में रखकर रचे जाने के कारण उनके स्वर-वर्णों, व्यजन-विधानो एव ध्वनियो में पर्याप्त वैषम्य पाया जाता है। दरिया साहब की कविता की इन विषमताओ का विश्लेषण प्रस्तुत ग्रथ मे विस्तार से किया गया है। पृ० २२३–२२५।

'ज्ञानस्वरोदय' और 'शब्द' के विशिष्ट अध्ययन तथा उनके अन्य ग्रथो के सामान्य अध्ययन के आधार पर दरिया साहब की भाषा के सबध मे डाक्टर साहब का कथन है कि 'रामचरित मानस' की अवधी भाषा पर पडे ब्रज, भोजपुरी, बुदेलखडी, बघेली, छत्तीसगढ़ी, राजस्थानी, खड़ीबोली आदि भाषाओ के प्रभाव की भांति दरिया साहब की भाषा पर भी खडी बोली और भोजपुरी का विशेष प्रभाव है। इस प्रसग मे उन्होने सज्ञा, लिंग, कारक, वचन, विशेषण, सर्वनाम, क्रिया, क्रिया विशेषण, अव्यय और प्रत्यय आदि का व्याकरण की दृष्टि से पर्याप्त अनुशीलन किया है।

१ दरिया साहब के शब्द समूह पर अपढ, जनसाधारण के प्रचलित शब्दो का प्रभाव है। उनकी शब्दावली अधिकाशतया सस्कृत मूलक है और उसमे तत्सम एवं तद्भव दोनो रूप मिलते है। इसके अतिरिक्त अरबी और फारसी शब्दो का भी उसमें प्रचुर प्रयोग हुआ है।

२ उनकी कविता का वाक्य-विन्यास अवधी प्रधान है। भोजपुर (शाहाबाद) के निवासी होने पर भी भोजपुरी की अपेक्षा उन्होने 'रामचरित-मानस' की अवधी भाषा को अपनाया है। उनके 'ज्ञानरत्न' में तुलसी के भाव और भाषा के प्रभाव का कारण यही है, वैसे उसमें भोजपुरी तथा खडीबोली का भी सम्मिश्रण है। 'रामचरितमानस' और 'ज्ञानरत्न' का तुलनात्मक अध्ययन पुस्तक के तीसरे खड के दूसरे परिच्छेद में है।

३. उनके शब्दक्रम में यह विशेषता है कि उसमे सामान्यतया कर्ता का प्रयोग क्रिया के पहिले और पूर्ण क्रिया वाक्य के अत में रखी गयी है। पृ० २३४–२६४।

सत दरिया भी संत कबीर की भाति पहिले प्रचारक और उसके बाद कवि थे। कबीर और दरिया के जीवन की लोकोपकारी भावनाओ एव उनके स्वभाव की वास्तविक बातो का चित्रण पुस्तक के तीसरे खड के पहिले परिच्छेद मे विस्तार से किया गया है और बताया है कि दरिया साहब की शिक्षाओ का उद्गम स्रोत कबीर की शिक्षाएँ हैं। इस दृष्टि से दरिया को बिहार राज्य के मध्यकालीन कवियो में सर्वोपरि स्थान दिया गया है। दरिया साहब ने जिन सामाजिक पाखडो

प्रचलित अंधविश्वासो और सप्रदायजन्य सकीर्णताओ के विरोध मे जो विचार प्रकट किये हैं, उनमें सतकबीर की सुधार भावनाओं की सभी बातें आ जाती हैं, वर कबीर के युग से लेकर अपने युग तक की बदली हुई परिस्थितियो का भी उनमें समावेश है। दूसरे खंड के पंद्रहवें परिच्छेद में इस विषय पर विस्तार से प्रकाश डाला गया है।

यद्यपि काव्य रचना करके अपनी कवित्व प्रतिभा का प्रदर्शन करना दरिया साहब का उद्देश्य नहीं था; किन्तु उनकी वाणियो में काव्यशास्त्र की दृष्टि से जो कथाशिल्प, भावविन्यास, रस-निवेश, चरित्र-चित्रण की खूबी, वर्णनात्मक प्रतिभा, कल्पना का उत्कर्ष, भाषा का सौष्ठव और रचना-विधान की श्रेष्ठता आदि सद्गुण अपने आप अनाहूत ही समाविष्ट हो गये हैं, काव्य-जिज्ञासु के लिए उनका बडा मूल्य है।

आत्मानुशासन और लोकाचार के सबध मे महात्मादरिया ने जिन-जिन सत्यवादिता, निष्कपटता, मद्यनिषेध, अहिसा, इद्रियनिग्रह, अहकारशून्यता और गरीबीजीवन आदि बातो पर अपने उच्च विचार अभिव्यक्त किये हैं, उनका विवेचन दूसरे खड के चौदहवें अध्याय में किया गया है।

सत-साहित्य की यौगिक विभूतियाँ अपना विशिष्ट स्थान रखती है। दरिया की योग सबधी क्रियाओ का विश्लेषण दूसरे खड के आठवे परिच्छेद में बड विद्वत्तापूर्ण ढग से किया गया है। इस प्रसंग में पहिले तो दरिया साहब के पिपीलक योग और विहगम योग के द्विविध प्रकारो की सम्यक् जानकारी के लिए कुडलिनी, इडा, पिंगला, सुषुम्ना, आसन, प्राणायाम, मुद्रा, षट्चक्र और सहस्रदल कमल आदि क्रियाओ की व्याख्या बडे सुगम ढग से की गयी है।

इस परिच्छेद के योगासन, शवासन, सिद्धासन, उग्रासन, और मूलाधारचक्र, स्वाधिष्ठानचक्र, मणिपूरचक्र, अनाहतचक्र, विशुद्धिचक्र, आज्ञाचक्र सबधी योगाभ्यास को सपादित करने के लिए दिया गया सचित्र विवरण बडे महत्त्व का है।

पुस्तक का दूसरा खड, मेरी दृष्टि मे सर्वोपरि है। वैसे भी विस्तार की दृष्टि से वह पाँचो खंडों में सबसे बडा है। इसका आरभ सतमत की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि' नामक पहिले परिच्छेदो से होता है। इस प्रसग में पहिले यह बताया गया है कि सतमत की रहस्य-भावना का उद्गम ऋग्वेद के सृष्टि संबधी सूक्तो मे है। जादू-टोना-धर्म का प्रतिपादन करने वाले अथर्ववेद में ऐसे उत्कट साधको का भी उल्लेख है, जिन्होने अपनी तपस्या द्वारा प्रकृति की उग्र शक्तियो पर विजय प्राप्त की और शारीरिक योग के बल पर समाधि की अवस्था भी प्राप्त की। अथर्ववेद की इन मूल भावनाओ को लेकर शैवमत, शाक्तमत और तत्रमत का जन्म हुआ और इन तीनो मतो से दाय ग्रहण का बाद मे सतमत का आविर्भाव हुआ।

वैदिक साहित्य का अतिम भाग वेदान्त अर्थात् उपनिषद् है। उपनिषद् ऐसे अद्भुत ज्ञान-पुजग्रथ हैं, जिनसे दाय ग्रहण कर भारत की प्राय सभी दार्शनिक विचारधाराओ ने अपना निर्माण किया। हम देखते हैं कि जैन-बौद्ध-दर्शन, आस्तिक षड्दर्शन, शैवमत, गीताधर्म, द्वैत, विशिष्टा-

द्वैत और अद्वैत की विभिन्न भावनाओ को प्ररणा देन तथा उनको स्वतंत्र दिशा में अग्रसर करने के मूल कारण उपनिषद् ही थे।

उपनिषद्-ग्रंथों में जहाँ-जहाँ परमात्मा के सूक्ष्मस्वरूप की तुलना आँख की पुतली में दिखाई पड़ने वाले सामने खड़े हुए व्यक्ति के सूक्ष्म प्रतिबिब रूप से की गयी है, ऐतिहासिक दृष्टि से ऐसे स्थल बहुत ही महत्त्व के है, क्योकि निर्गुणवादी सतो के द्वारा प्रतिपादित 'विहगमयोग' का मुख्य उद्देश्य यही है कि सत्पुरुष (परमात्मा) की आँखो के अष्टदल कमल में ज्ञान प्रत्यक्ष किया जाय। उपनिषदो का यह आँखो का पुरुष (अक्षिणी पुरुष) ही सतमत के आँखो का सत्पुरुष (अक्षिणी-सत्पुरुष) बन बैठा। उपनिषत्कालीन ऋषियो के आत्मानुभूतिप्रधान रहस्यमय सकेतरूपो को ही सतो ने लाक्षणिक रूपको, व्याघात्मक उक्तियो और दापत्य प्रेम के अनुरूप ईश्वरीय प्रेम की कल्पना के तीन रूपो में लिया है।

हमें आशा है कि सत-साहित्य के क्षेत्र मे और विशेषरूप से सत दरिया के सबध मे जानकारी प्राप्त करने वाले अनुसधित्सु विद्वानो एव उच्चकक्षा के छात्रो का पथ-निर्देशन करने मे डाक्टर साहब की बडे यत्न से निर्मित यह कृति बडी उपयोगी सिद्ध होगी। इस पुस्तक के आजाने से हिन्दी साहित्य की एक धुधली दिशा प्रकाशित हो गयी है, जिसका श्रेय परिषद् और ग्रथ लेखक दोनो को है।

गिलट के गहने—लेखक—श्री अमरबहादुर सिह 'अमरेश'; प्रकाशक,—आदर्श प्रकाशक पथरिया घाट स्ट्रीट, कलकत्ता–६। मूल्य २)

१३८ पृष्ठ के इस उपन्याम को प्रगतिशील विचारधारा का मनोरजक उपन्यास बताया गया है। उपन्यास की नायिका शैलकुमारी एक ग्रामीण, अपढ और विवाहित तरुणी है, नायक कमलेश्वर नगर का रहने वाला बी० ए० का विद्यार्थी है। कमलेश्वर अपनी किसी रिश्ते की भाभी के गाँव जाता है, वही उसकी आँखे गिलट के गहने पहने हुई शैल की आँखो मे मिल जाती है, दोनो का कामुक आकर्षण बढता है आगे चलकर अन्त मे कमलेश्वर प्रेम की उपासना में पागल बन जाता है और फिर उसका असफल प्राणान्त हो जाता है।

घटनाएँ ऐसी है जिनके प्रति पाठक का आकर्षण बढ़ता है, किन्तु यह बात छिपी नही रहती कि कथानक को बढाने के लिए कुछ घटनाएँ असंयत ढग से भी जोडी गयी है। गाँव से दूर एक अस्पताल मे कमलेश्वर चिकित्सा के लिए भरती होता है, तो प्रतिदिन शैल उसे देखने जाती है, उसकी सेवा करने जाती है। जब कि उसका कमलेश्वर से कोई नाता-रिश्ता नही और न उसने ससुराल की देहली देखी है। इस प्रकार का नारी स्वातत्र्य ग्रामीण सस्कृति के विरुद्ध है। कोई भी ग्राम्य-युवती ऐसा साहस नही कर सकती। इस तरह की घटनाएँ उपन्यास को अस्वाभाविक बना रही है।

प्रगतिशीलता की परिभाषा यदि नाजायज प्रेम करना और उस पर न केवल अपने चरित्र की बलि चढ़ाना बल्कि जीवन को भी न्यौछावर कर देना है, तब तो कोई बात नहीं। प्रगति-

शीलता का तात्पर्य जीवन का संशोधन कर विकास और निर्माण की ओर ले जाना होना चाहिए। उपन्यास और कहानी केवल प्रेम और वासना को आधार बना कर ही नही लिखी जा सकती, इनके अतिरिक्त अन्य और भी क्षेत्र हैं, जिनकी देश और समाज को आवश्यकता है। नारी स्वातन्त्र्य का तात्पर्य चरित्रहीनता नही होना चाहिए। लेखक की भाषा, शैली मे बल और प्रभाव है। मुहाविरो के प्रयोग बहुत सुन्दर ढग से किये गये हैं। पुस्तक का गेट-अप, छपाई आकर्षक है। प्रूफ की अशुद्धियाँ अधिक हैं। साथ ही मूल्य भी अधिक रखा गया है।

बेकसी का मजार—लेखक—श्री प्रतापनारायण श्रीवास्तव, प्रकाशक—भारती प्रतिष्ठान पी० रोड, कानपुर। डबल डिमाई साइज पृष्ठ ५५२, मूल्य १०)

१०० वर्ष पूर्व १८५७ मे भारतीय गगन मे आग, पानी और तूफान लिए हुय मेघमाला उतरी, उसने भारत-भूमि मे आग बरसायी, पानी बरसाया और भयकर तूफान बरपा किया। आग बुझी नही सुलगती रही, पानी ने क्रान्ति के बीज बोये और पनपाये, तूफान हर भारतीय हृदय को मथता रहा, ६१ वर्ष बाद क्रान्ति के बीज वृक्ष बन और उनमे आजादी के फल लगे, आग ने ज्योति और शक्ति दी तूफान ने साम्राज्यवाद को जडमूल से उखाड फेका। सौ वर्ष पूर्व स्वतन्त्रता का बीजारोपण जिस प्रकार भारतीय दिल दिमाग ने किया था, क्रान्ति की प्रतिष्ठा की थी उसी का इतिहास 'बेकसी का मजार' है। लेखक हिन्दी के सुपरिचित उपन्यासकार हैं। भाषा पर उनका अधिकार है, शैली उनकी अपनी है जिसमे चुभन है, कम्पन है और छटपटाहट है।

इतिहास को गवाही बनाकर औपन्यासिक ढग पर सन् १८५७ ई० की भारतीय प्रथम सशस्त्र क्रान्ति का जो विवरण प्रस्तुत किया गया है, उसमे लेखक की औपन्यासिक कला और ऐतिहासिक अनुसन्धान की प्रवृत्ति की अभिव्यक्ति सुरुचि और तथ्य की पृष्ठभूमि मे हुई है इतिहास जैसे नीरस विषय को सुरुचिपूर्ण, मोहक बनाने के लिए लेखक को उपन्यास का सहारा लेना पडा है, किन्तु यथार्थ और ऐतिहासिक घटनाओ की कतई उपेक्षा नही की गयी है। प्यार-दुलार, स्नेह-सामजस्य, क्रान्ति-शान्ति, विवेक-आवेग, तिलस्मी, ऐयारी और मक्कारी नैतिकता का द्वन्द्वात्मक निदर्शन इस कृति मे बडी सफलता से निभाया गया है। इतना ही नही अनेक लिखित, अनुश्रुतिजन्य घटनाओ की समीक्षा के साथ ही भ्रम विच्छेद भी किया गया है।

सशस्त्र क्रान्ति की पृष्ठभूमि कैसे रची गयी, उसकी जन्मस्थली कहाँ थी, कौन-कौन उसके जन्मदाता, पोषक रहे और किस प्रकार वह पाली पोसी गयी और तरुणाई आते ही किस प्रकार वह सहसा विलुप्त हुई इत्यादि घटनाओ का ऐतिहासिक आधार पर बडी खोज से सुरुचिपूर्ण ढग से वर्णन किया गया है। हिन्दू मुस्लिम एकता, उनकी देशनिष्ठा और अंग्रेजीराज के प्रति उनकी घृणा और सक्रिय चेष्टाएं बडी कारुणिक, अत्यन्त उत्तेजक एव प्रेरणाप्रद हैं। इतने बड़े संगठन का क्षतविक्षत होना महान् क्रान्ति का असफल होना और देश के कुछ गद्दारो द्वारा देश के साथ विश्वासघात करना आदि समस्त घटनाएँ आजादी की बलि, वेदी को बेकसी का मजार बनाती हैं। नि सन्देह सन् १८५७ की क्रान्ति का यह प्रामाणिक इतिहास और उपन्यास है।

प्रथम क्रान्ति की जन्म-शती में इसका प्रकाशन राष्ट्र और राष्ट्रभाषा की वह वाङ्मयी उपासना है, जो जन-जागरण का वरदान भारतीय जनता को दे रही है। लेखक का महान् परिश्रम उसकी ज्वलन्त राष्ट्रीयता का एक चिह्न है। विश्वास है कि इस कृति का रूपान्तर अन्तरदेशीय भाषाओं में भारत सरकार के तत्त्वाधान मे अवश्य किया जायगा।

बुद्धवचनामृत—सम्पादक त्रिपिटकाचार्य डी० शासन श्री महास्थविर; प्रकाशक महाबोधि सभा, सारनाथ काशी, सोलह पेजी आकार के ६५ पृष्ठ और मूल्य १।~) । आकर्षक सजिल्द कवर, सुन्दर कागज और छपाई।

बौद्ध धर्म का समूचा साहित्य सुत्त, विनय और अभिधम्म इन तीन पिटकों में वर्गीकृत कर विभक्त किया गया था। तीन पिटक त्रिपिटक के नाम से ख्यात है। त्रिपिटक भारतीय वाङमय के महोदधि है, जिसके गर्भ में अनन्त रत्न समाये हुए है, उन्हें निकालने और परखने के लिए क्षमता, प्रतिभा के साथ ही तप और स्वाध्याय भी नितान्त अपेक्षित है। श्री डी० शासन श्री महास्थविर त्रिपिटक साहित्य के आचार्य होने के साथ ही शायद बौद्ध सस्कार और पारमिताओ को साथ मे लेकर उत्पन्न हुए है। उनमे बुद्धत्व सहज प्राप्त हुआ है यह कहना अतिशय होगा किन्तु यह निर्विवाद है कि तथागत का आशीर्वाद उन्हे जन्म-जन्मान्तर से प्राप्त है। यही कारण है, कि सिहली भाषी होते हुए भी आपने हिन्दी मे बुद्धवचनामृत लिखकर न केवल राष्ट्र और राष्ट्रभाषा की सेवा की है बल्कि अनन्त, अथाह सागर मे डूबकर अनमोल मोती निकालने मे पूर्ण सफलता प्राप्त की है।

त्रिपिटक के विभिन्न निकायो मे भगवान् तथागत के उपदेश भरे पड़े है, उन्हे खोजना और फिर उनका वर्गीकरण करना डी० शासन श्री महास्थविर जैसे परिव्राजक विद्वान् और तपस्वी के प्रतिभा और पुरुषार्थ के वश की बात है। इस पुस्तक मे 'धर्म के गुण' से लेकर अन्तिम 'बुद्ध वचनामृत' तक कुल १०३ वचनामृत सगृहीत है। वचनो को खोजकर उनका जो वर्गीकरण किया गया है वह सर्वसामान्य खासकर गृहस्थो के लाभ और हित को ध्यान मे रख कर ही। आज जब मानव दानव मे परिणत होता जा रहा है। मानवता का पदे-पदे अपमान किया जा रहा है, अहिसा का अस्तित्व तलवार और अणुअस्त्रो से मिटाये जाने की चेष्टाएँ की जा रही है ऐसे जडवाद ग्रस्त काल मे 'बुद्ध वचनामृत' बहुजनहिताय, बहुजन सुखाय प्रकाशित किया गया है। नि सन्देह ये वचन अमृत है और इन्हे धारण करने, सुनने और मनन करने से मनुष्य, हिसा, घृणा द्वेष्य आदि विकारो से छूटकर अमृत पद (मोक्ष) प्राप्त कर सकता है। इसका अनुवाद समस्त भारतीय भाषाओ और अन्तर्राष्ट्रीय भाषाओं मे होने से विश्व मंगलमय बन सकेगा—ऐसा विश्वास है।

कितना सुन्दर देश हमारा—लेखक—डा० भगवतशरण उपाध्याय, प्रकाशक—राजपाल एण्ड सन्स, कश्मीरी गेट, दिल्ली; मूल्य सवा रुपये।

राजपाल एण्ड सन्स द्वारा सचालित 'स्वदेश परिचय पुस्तक माला, के अन्तर्गत जो छोटी-छोटी सचित्र पुस्तकें प्रकाशित हो रही है, उन्ही में से एक यह पुस्तक भी है जो प्रौढो की प्राथ-

मिक परिचय चारुता को बढ़ाने मे उपयोगी है। ६६ पृष्ठ की इस पुस्तक मे भारत का भौगोलिक परिचय बोलचाल की भाषा में कहानी के ढग पर दिया गया है। डाक्टर उपाध्याय भारतीय इतिहास और पुरातत्त्व के विशेषज्ञ और सक्रिय अन्वेषक है। उनकी लेखनी से लिखा जानेवाला विषय पूर्ण और प्रामाणिक हुआ करता है, इसलिए इस पुस्तक मे भारत के चारों खूटों का जो संक्षिप्त वर्णन किया गया है, उसमें इतिहास बोलता है और सस्कृति शृंगार बनी हुई है।

डा० उपाध्याय कालिदास के कृतित्व के मननशील विद्यार्थी और अधिकारी विद्वान् है, इसलिए स्वभाविक है, कि जिन स्थानो या प्रदेशो का वर्णन कालिदास ने किया है, अथवा कालिदास का उनसे विशेष मोह रहा है, उनके वर्णन उपाध्याय जी ने बडी रोचकता और उदारता से इस पुस्तक मे किये है। एक बात और है, जितना विशद और लोकोत्तर अनुराग बढाने वाला वर्णन उत्तर भारत का है, उतना दक्षिण, पूर्व और पश्चिम का नही बन पाया है। हिमालय से वर्णन प्रारम्भ होकर मलाबार के वर्णन से समाप्त होता है। दक्षिण में रामेश्वर, तन्जौर, मैसूर और मलाबार के ही वर्णन मुख्य है। सिरीज के नियमो से शायद बँधे हुए होने के कारण उत्तरोत्तर वर्णन सकुचित होता गया है, फिर भी महोदधि और रत्नाकर समुद्रो के सगम और भारत का दक्षिणी सीमान्त कन्याकुमारी जैसे विश्व विश्रुत प्राकृतिक, धार्मिक स्थान की उपेक्षा नही करनी चाहिए थी। हिमालय-विन्ध्याचल की भाँति, दक्षिण के महेन्द्राचल, मलयाचल, नीलगिरि पर्वतो का भी प्राकृतिक, ऐतिहासिक और धार्मिक महत्त्व है, इन्हे भी न भूलना चाहिए था। मसालो के प्रदेश मलाबार से कही अधिक सुरम्य, उर्वर और साहित्य, इतिहास तथा धर्म का केन्द्र केरल प्रदेश भी उपेक्षित समझा गया है।

फिर भी जितना लिखा गया है, वह भाषा, शैली, परिचय-चारुता और उपयोगिता की दृष्टि से बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। पुस्तक प्रौढ शिक्षण के कार्यक्रम को सफल और विकसित बनाने मे नितान्त उपयोगी सिद्ध होगी।

यात्री : रेत और झाग—मूल लेखक—खलील जिब्रान, अनुवादक माईदयाल—जैन, प्रकाशक—राजपाल एण्ड सन्स, कश्मीरी गेट, दिल्ली, आकार २०″ + ३०″ डबल क्राउन सोलह पेजी मूल्य २) छपाई, कागज, गेटअप सुन्दर, आकर्षक

यूरूप और अमेरिका मे खलील जिब्रान का वही स्थान है, भारत मे जो रवीन्द्रनाथ ठाकुर का है। आधुनिक जगत् के महाकवियो, दार्शनिको और चिन्तको की अगली पात में खलील जिब्रान का गौरवशाली स्थान है। यात्री और रेत और झाग दोनो पुस्तको मे उनके जो विचार सगृहीत किये गये हैं, उन्हे भावचित्र, सूक्तियाँ या लघुकथाएँ, शब्दचित्र चाहे जो भी कहा जाय पर वे वास्तव मे महाकाव्य है, जिनकी हर साँस मे मनीषी खलील जिब्रान का आत्मविश्वास पल रहा है, हर वाक्य उनके दिल की धडकन बन रहा है। जीवन का शाश्वत सत्य इन अमृत बोलों में भरा हुआ है। ये वाक्य आकार मे लघुकाय है किन्तु अनुभव की गम्भीरता अथाह है! ये विचार देश, जाति और धर्म की सीमाओ से परे मानवमात्र के लिये चिरन्तन सत्य की भाँति ग्राह्य और उपादेय है।

ऐसे उच्च कोटि के विचारो को राजपाल एण्ड सन्स ने हिन्दी में रूपान्तरित करा कर प्रकाशित करने का जो उद्योग किया है वह राष्ट्र, राष्ट्रभाषा और हिन्दी के पाठको के प्रति महान् उपकार का परिचायक है।

धम्मपद—अनुवादक–श्री इन्द्र विद्यावाचस्पति, प्रकाशक–राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली, मूल्य ३)

भगवान् बुद्ध के वे वचन जो धर्म-सदाचार से सबधित है उन्ही का संग्रह धम्म (धर्म,) पद कहलाता है। धम्मपद के श्लोक सुत्तपिटक एव थेर गाथाओं में पाये जाते है। विभिन्न निकायों और गाथाओ से चुन-चुन कर धम्मपद का सग्रह किया गया है। ईसवी सन् ४०० के लगभग बुद्ध घोषने जो अट्ठकथाएँ लिखी थी वे धम्मपद की ही व्याख्या है। बुद्ध भगवान् ने सदाचार के जो नियम बताये थे और जिस पचशील का निरूपण किया था, वे सब धम्मपद के ही अन्तर्गत हैं। मूल धम्मपद पालिभाषा मे होने के कारण सर्वसाधारण ही नही बल्कि संस्कृत-प्राकृतभाषाओ के अध्ययनशील व्यक्तियो के लिए सहज बोधगम्य न होने के कारण इन्द्रजी ने पालि भाषा के श्लोको को सस्कृत मे परिवर्तित कर उनकी व्याख्या हिन्दी में की है, इससे मूल और अनुवाद दोनों को हृदयगम करने का लाभ और आनन्द प्राप्त होता है।

प्रारभ में जो प्रस्तावना दी गयी है, वह धम्मपद का सर्वतोमुखी अध्ययन प्रस्तुत करती है। यमक वर्ग से लेकर ब्राह्मणवर्ग तक २६ वर्गो मे धम्मपद विभक्त हुआ है। इन्द्रजी प्राचीन शास्त्रो के पारगामी विद्वान् माने जाते हैं। साथ ही हिन्दी के ख्यातिप्राप्त पत्रकार और लेखक भी है। सस्कृत और हिन्दी भाषाओ पर उनका समान अधिकार है, इसलिए पालिभाषा के श्लोको का सस्कृत- रूपान्तर और फिर उनका हिन्दी रूपान्तर अत्यन्त सुष्ठु, प्रवहशील, स्वाभाविक बन पडा है। अनुवाद एक कठिन काम है किन्तु इन्द्रजी ने अनुवाद को मूल की भाँति प्रस्तुत करने मे सफलता प्राप्त की है। भाषा सहज, सुबोध और हृदयग्राही है। जैसे —

'पापी आदमी तब तक भलाई को देखता है, जब तक पाप पकता नही है। जब पाप पक जाता है, तब पापी बुरे परिणामो को देखता है।'

धम्मपद के सभी वचन मनुष्य मात्र के लिए उपयोगी है, इनमे धार्मिक या साम्प्रदायिक न तो आग्रह है और न निन्दा या आलोचना। आदि से अन्त तक मानवीय सद्गुणो का प्रस्तर है। मानवता की प्रतिष्ठा है। इसलिए यह ग्रन्थ बौद्धो के अतिरिक्त हर धर्मावलम्बी के लिए उपयोगी ही नही बल्कि जीवन का सहारा है। पुस्तक की छपाई उसका कागज और बाह्य आवरण सब कुछ अति सुन्दर अलकृत और सुसस्कृत है। —देवदत्त शास्त्री

हमारे सहयोगी

कल्याण (तीर्थांक)—सम्पादक—श्री हनुमानप्रसाद पोद्दार, चिम्मनलाल गोस्वामी एम० ए० शास्त्री, प्रकाशक—गीता प्रेस, गोरखपुर, इस अक का मूल्य ७ रुपये।

७०४ पृष्ठो के इस विशेषाक के प्रारम्भ मे देवस्तवन और देवपूजन विधियाँ तथा पुराणो से उद्धृत तीर्थों के फल आदि है। इसके बाद उत्तर भारत, मध्य भारत, दक्षिण भारत

पश्चिम भारत के तीर्थ एव सात पुरियो, चार धामो, द्वादश ज्योतिर्लिंगो आदि ज्ञातव्य बातों की विशद जानकारी, लेख तथा कविताएँ भी हैं। इनके अतिरिक्त ५३२ एकरग, दो रंग और तीन रग के चित्र हैं।

जैसा कि सम्पादकीय मे कहा गया है कि समूची भारत भूमि तीर्थ स्थली है बिल्कुल सत्य है और इस सिद्धान्त से तीर्थों के सबध में कितना भी लिखा जाय अपर्याप्त और अधूरा समझा जायगा। यह भी सही है, कि जैसा कि सपादक ने स्वीकार किया है कि तीर्थों की दूरी तथा मार्ग के सबध में त्रुटियां सम्भाव्य है। फिर भी विषय और वस्तु को देखते हुए इस विशेषता की उपयोगिता और आवश्यकता से इनकार नही किया जा सकता है।

सम्पादक के इस कथन से हम सहमत है कि इस विषय का साहित्य अभी तक विशेषाक के रूप में नही प्रकाशित हुआ है। किन्तु जहाँ तक पुस्तको का सबध है इस विषय की प्रकाशित हो चुकी हैं।

कल्याण साधन सम्पन्न है, लाखो ग्राहको द्वारा अपनाया जाता है। इसलिए इसके लिए इस प्रकार के विशेषाक प्रकाशित करना कोई बडी भारी बात नही। विशेषता तो इतनी ही है, कि सास्कृतिक दृष्टिकोण रखकर विशेषाकों का चुनाव अवश्य किया जाता है, किन्तु इधर कुछ वर्षों से विशेषांको के सम्पादन मे शिथिलता दृष्टिगोचर होने लग गयी है।

प्रस्तुत विशेषाक की लेख सामग्री का बटवारा और संयोजन देखकर ऐसा ज्ञात होता है कि यह काम कच्चे हाथो और अपरिपक्व बुद्धि ने किया है। वैज्ञानिक दृष्टिकोण का अभाव है।

अनेक ऐसे तीर्थ है, जहा पर सम्पादकीय विभाग द्वारा प्रेषित दल शायद पहुँच नही सका है, किन्तु जहा कही से उन स्थानो का वर्णन लिया गया है, वह भी यथार्थ का बोधक नही है। ऐसे स्थानों में खासकर 'सतोपथ' और 'स्वर्गारोहण' हमारी दृष्टिपथ से ओझल नहीं हो पाते। जहाँ पर ऐसे तीर्थों की सूची दी गयी है जहाँ श्राद्ध किये जाते है, उन तीर्थों में सतोपथ नही लिया गया, जब कि माणा गाव और उसके आसपास के क्षेत्र के निवासी प्राणो को हथेली पर रख कर कई गाँवो के भस्मावशेषो को लेकर सतोपथ जाते है और अधिकाश लौटकर नही आते।

दुर्गम और अजेय तीर्थस्थानो को छोड दें तो भी साध्य, निकटस्थ और सुप्रसिद्ध तीर्थों के अधिकाश परिचय भ्रामक ढग से दिये गये है। जैसे —

चित्रकूट परिचय मे लेखक को यह मान्य होते हुए भी कि चित्रकूट और कामदगिरि भिन्न पर्वत है तथापि उन्होने चित्रकूट को कामदगिरि और कामदगिरि को चित्रकूट मे परिवर्तित कर दिया है। वस्तुत सीतापुर में जहा यज्ञवेदी और मत्तगयद का मंदिर है वह कामदगिरि है, और उससे दो मील आगे जिस पर्वत की परिक्रमा की जाती है जहाँ पर मुखारविन्द, भरतमिलाप और लछमन पहाडी है, वह चित्रकूट है।

सीतापुर मे पोस्टआफिस चित्रकूट के नाम से है, पुलीस नाका भी इसी नाम से है किन्तु सीतापुर अन्य सरकारी काम में अपना अस्तित्व रखता है, वहाँ टाउन एरिया भी इसी नाम से

है। सीतापुर से उत्तर-पश्चिम लगभग पाच मील पर शिवरामपुर गाँव में चित्रकूट रेलवे स्टेशन है। लेखक ने भ्रमवश सीतापुर कस्बे को चित्रकूट लिखा है और चित्रकूट पहाड की परिक्रमा में स्थित गाँव खोही को कामता या चित्रकूट।

चित्रकूट परिचय भ्रामक होने के साथ ही अशुद्ध है और अनेक सुप्रसिद्ध सुदर्शन स्थानो के परिचय से रहित भी है। अनसूया, रामशय्या आदि स्थानों की दूरी भी गलत लिखी गयी है। अनसूया से निकलने वाली नदी मन्दाकिनी का कोई परिचय नहीं दिया गया। रामधाम, प्रमोद वन सीतारसोइयाँ, देवागना, कोटितीर्थ, बाके सिद्ध, नरहरी आश्रम जैसे महत्त्वपूर्ण और प्राकृतिक छटा सम्पन्न स्थानो को छोड दिया गया है।

पयस्विनी को एक ऐसा नाला बताया गया है जो गर्मियो मे सूख जाता है। वस्तुत मन्दाकिनी, पयस्विनी और वाणगंगा ये तीन पुण्य सरिताएँ चित्रकूट की धार्मिक और प्राकृतिक सम्पत्ति हैं। पयस्विनी चित्रकूट की मेखला से बहती हुई सीतापुर मे जहाँ मन्दाकिनी से मिलती है, उसे राघव प्रयाग कहते हैं।

कर्वी-तरौहाँ से ढाई मील जिस गणेश कुड तीर्थ का परिचय दिया गया है, वस्तुत वह न तीर्थ है न कुण्ड ही है। वह स्थान गणेश बाग के नाम से प्रसिद्ध है और बाके सिद्ध, देवागना, कोटितीर्थ जाने के मार्ग में पड़ता है। यह स्थान मरहठो के शासनकाल मे उनका निवास स्थान था, उनके महलों के ध्वसावशेष अब भी है। जिसे कुड कहा गया है वह एक विशाल बावडी है, जिसमे सात भूमिकाए हैं।

ऐसा मालूम होता है, कि वाल्मीकि आश्रम और राजापुर (गो० तुलसीदास जी की जन्म भूमि) को विना देखे हुए अथवा इन स्थानो से अपरिचित किसी व्यक्ति से सुनकर इनका परिचय लिखा गया है। यही कारण है कि अक्षम्य भूल हो गयी है। वाल्मीकि आश्रम को लालापुर पहाडी पर बछोई ग्राम मे बताया गया है। सच तो यह है कि पहाडी का नाम लालापुर गाव के नाम पर ही है। पहाडी के कटि प्रदेश मे लालापुर गाँव बसा हुआ है, उसी के नीचे वाल्मीकि नदी बहती है। गाव के घरो के पास से ही लगभग तीन सौ सीढियाँ पहाड पर है, जिन पर चढने से असावर माता का मन्दिर मिलता है और मंदिर के पार्श्व से शृंगपर चढने पर वाल्मीकि जी का मदिर है। असावर देवी बाँदा और इलाहाबाद तथा रीवा क्षेत्र की प्रसिद्ध प्रतिष्ठित देवी हैं। प्रतिवर्ष राम-नवमी के अवसर पर तीन दिन बहुत बडा मेला लगता है।

यहाँ पर बछोई नाम का और कोई गाँव नही है। हाँ नदी पार करने पर पश्चिम की ओर दो मील पर बगरेही गाँव अवश्य है। वाल्मीकि आश्रम इलाहाबाद-झासी रोड और राजापुर-मानिकपुर रोड के सगम पर स्थित है। किन्तु लेखक ने लिखा है कि यहाँ आने के लिये केवल पगडडी रास्ता है।

प्रयाग के आसपास के तीर्थों मे राजापुर की गणना की गयी है। वस्तुत यह चित्रकूट क्षेत्र के अन्तर्गत है बाँदा जिला होने के साथ ही चित्रकूट से केवल २२ मील पर है, इलाहाबाद से ५० मील पडता है और यमुना पार करके जाना पडता है। राजापुर को गोस्वामी तुलसीदास

जी की जन्मभूमि अथवा साधनाभूमि लिखा है, निर्णय इसलिए नही किया कि एक मत से तुलसी-दास जी की जन्मभूमि सोरो भी है। ऐसा लिखना ठीक ही था, लेकिन शकराचार्य के मठो के परिचय में ज्योतिर्मठ का परिचय देते हुए उसके वर्तमान शंकराचार्य श्री कृष्णबोधाश्रम जी को बताया गया है, जबकि स्पष्ट है कि स्वामी शकराचार्य ने अपना लिखित उत्तराधिकारी स्वामी शान्तानन्दजी को बनाया था। उनका अभिषेक होने के बाद कृष्णबोधाश्रम जी का भी अभिषेक एक दल द्वारा किया गया और विवाद पैदा होने पर निर्णय न्यायालय मे विचाराधीन है। ऐसी स्थिति मे कृष्णबोधाश्रम जी को शकराचार्य स्वीकार करना हमारी समझ मे अवैध है, राजापुर की भाँति उसे भी सन्दिग्ध रखा जाता तो अच्छा होता। न्यायालय के निर्णय से पूर्व अपना निर्णय दे देना न्यायालय का अपमान समझा जाता है।

सबसे भयकर भूल तो यह है कि राजापुर के पास यमुनापार महोबा बताया गया है और लिखा गया है कि इसका विस्तृत परिचय चित्रकूट परिचय के साथ दिया जायगा। वहाँ हमीर-पुर जिले के महोबा का वर्णन विस्तार से किया गया है जो राजापुर से १३० मील के लगभग चित्रकूट से भी शायद इसमे कुछ ही कम दूर पडता है। राजापुर के पास यमुना पार महोबा नही। महेवा गाँव है। जहाँ प्रयाग से जाने-आने वाली बसो का अड्डा है।

ऐसा प्रतीत होता है कि तीर्थांक की लेख सूची बनाते समय कोई सिद्धान्त स्थिर नही किया गया और न तीर्थों का भौगोलिक या सास्कृतिक ढग से वर्गीकरण ही किया गया, जैसा कि सम्पादन से भी प्रकट है। यही कारण है कि तीर्थों के परिचय भ्रामक हो गये साथ ही अनेक महत्वपूर्ण तीर्थ छूट गये और जो वस्तुत तीर्थ कोटि मे नही है उनको स्थान दिया गया है। जैसे फतेहपुर जिले का **असोथरतीर्थ** यहाँ किसी समय अश्वत्थामा का किला था और अब बरमहेबाबा की समाधि है। यदि किला और बरमहे बाबा अथवा बरम बाबा या सत्ती दाई की समाधि चबूतरो को भी तीर्थ माना जाता है तो ऐसा कोई गाँव नही जहाँ ग्राम्यदेवता, सत्ती चौतरा न हो, अनेक सिद्धसन्त कही न कही, मरे ही होंगे, समाधि या चबूतरा बना ही होगा ? तब तो तीर्थांक 'ड्कग्यिा-पुराणअक' बन जायगा।

यही नही संस्थाओ को भी तीर्थ माना गया है। रामवन (सतना) को आधुनिक तीर्थ बताया है, इसलिए कि वहाँ मानस सघ सस्था है, रामायण-प्रचार का प्रकाशन होता है, तब फिर गीता प्रेस और बरहज को क्यो छोड दिया गया। वर्धा का सत्याश्रम, विनोबा का पवनार आश्रम, गाधी जी का सेवाग्राम, साबरमती आश्रम भी तीर्थ है, इन स्थानोका भी परिचय देना था। प्रयाग के आस पास के तीर्थों मे एक तीर्थ ऋषियन का जो परिचय दिया गया है वह नितान्त भ्रामक और तथ्यहीन है। इस स्थान का नाम मऊ-छीबो लिखा गया है। वस्तुत मऊ बाँदा जिले की एक तहसील है और छीबो परगना है जो मऊ से १२ मील दूर है और ऋषियन इन दोनों गावो से काफी दूर है। ऋषियन जमुना तट पर एक एकान्त उपवन है जहाँ पर पहले किसी समय ब्रह्म-चारी, ऋषि रहते थे। गुफाए और यज्ञवेदियाँ यहाँ अब भी है, इस स्थान पर जैन साधु भी रहा करते थे।

कैलास से कन्याकुमारी तक के तीर्थों मे ऐसी ही भ्रान्तियाँ हमे देखने को मिली। कन्या-कुमारी मंदिर के पीछे जहाँ गणेश मदिर का जिक्र किया गया है वही पर समुद्र में एक भारी चट्टान है जहाँ पर बताया जाता है कि स्वामी विवेकानन्द ने साधना करके सिद्धि प्राप्त की थी, यह स्थान गणेश मदिर से भी अधिक प्रसिद्ध है। गणेश जी की स्थापना परशुराम जी ने की थी। ऐसी ही भ्रान्तियाँ और कूद-फाँद कश्मीर क्षेत्र में भी है।

कल्याण नि.सदेह हिन्दी भाषी क्षेत्र का और भारतीय मासिक पत्रों का सर्वोपरि सांस्कृतिक प्रतिनिधि पत्र है। इसके प्रत्येक अक अपना स्थायी मूल्य रखते है, फिर विशेषाक तो सग्रह-सम्पत्ति है, किन्तु इस विशेषाक की सम्पादकीय सूझ से हमे निराश होना पड़ा, हमारा अनुरोध है कि ऐसे विशेषाक जो देश-विदश के लिए सदर्भ ग्रथ मानकर मान्य समझे जाते है, उनके सम्पादन मे ऐसी असावधानी भविष्य मे न बरती जाय।

सनीचर——सम्पादक——ललित, वार्षिक ३) पता——१००–४। ई० काशीपुर रोड, कलकत्ता।

सन् १९५७ के साथ सनीचर का जन्म जादू के देश बगाल के उल्कवाहिनी-पुत्रों के नगर कलकत्ता मे हुआ और पैदा होते ही बिना मा-बाप का यह इकलौता प्रयाग की त्रिवेणी मे गोते लगाने के लिए पहुँच गया है। सगम की रेत-बालू से धूल-धूसरित सनीचर को देखकर बड़ी उत्कण्ठा पैदा हुई, क्यो——हिन्दी मे गुरुडमग्रह, मगलग्रह और एरे-गैरे बुद्धू ग्रह तो बहुत है किन्तु सनीचर का अभाव खटक रहा था सो वह भी प्राची के सूर्य द्वारा उत्पन्न हो गया।

सनीचर ने अपनी प्रयोगशाला में घोषणापत्र से लेकर चवा चक्रम तक बीस विषय-विषो का शोधन अपने पहले चरण मे किया है। और 'साढे साती' पर उसकी खोज जारी है।

सनीचर की दृष्टि इतनी तेज और सूक्ष्मवेधी है, कि आडम्बर और आदर्श का डिठौना लगाने पर भी कोई साहित्यिक या साहित्य शनि-दृष्टि से बच सकेगा——सन्देहास्पद है। पैदा होने से पूर्व ही सनीचर की सनीचरी दृष्टि इलाहाबाद पर लग गयी थी, शायद इसीलिए इस नवजात किन्तु शाश्वत सनीचर की देह इलाहाबादी गन्दगी से बेहद मलिन और बदबूदार बन गयी है।

हमारी कामना है कि प्रयाग की गगा इसे ज्ञान दे, सरस्वती वाणी की सिद्धि दे, यमुना गति और पुरुषार्थ दे तथा अक्षयवट दीर्घायुष्य प्रदान करे। सनीचर की तोतली बोली, अटपटी बाते सुनने मे मनोरजक और समझने मे सत्य पर आधारित प्रतीत होती है। डर यही है कि यह नन्हा-मुन्ना बहक न जाय। अभी तो इसमे ललित ओज है चलित योग है भविष्य की भगवान् जाने।

सिद्धाञ्जना——सम्पादक——श्री परमानन्द शर्मा, प्रकाशक——कालीचरण गुप्त शिस्को प्रिण्टर्स ३४७। १ अपरचितपुर रोड कलकत्ता, वार्षिक सदस्य शुल्क चार रुपये।

पता नही कितने दिनो की साधना के बाद श्री परमानन्द शर्मा ने किसी सिद्ध से अञ्जन गुटिका प्राप्त कर वसत पचमी के दिन अपनी सिद्धि का चमत्कार 'सिद्धाञ्जना' सर्वसाधारण के सामने प्रकाशित किया है।

अधिकारवादी और सम्पत्तिवादी इन दो पार्टियों के बीच पिसते हुए द्रव्यहारा का उद्धार करना, विषमताओ और उलझनो के ऊपर रूप विस्तार को सकुचित बनाना तथा साहित्य, शिक्षा के अवाञ्छनीय तत्त्वो को एक विषम रोग समझकर 'विषस्य विषमौषधम्' सिद्धान्त के अनुसार औषधि (मृगाक) तैयार करना सिद्धाञ्जना का उद्देश्य है, और ठोस विचारो एव परिष्कृत भावो से परिपुष्ट साहित्य जनता-जनार्दन के हृदय तक पहुँचाना इसका अन्तिम लक्ष्य-वेध है।

इस उद्देश्य और लक्ष्य के अनुसार सम्पादकीय टिप्पणियाँ और लेख सामग्री उपयुक्त है। परिष्कृत भाषा और हृदय को मथनेवाले विचार इस अक मे है। यदि उद्देश्यो को पल्लवित किया गया तो नि सन्देह सिद्धाञ्जना हिन्दी साहित्य के एक अभाव की पूर्ति के साथ संस्कार करने वाली पत्रिका मानी जायगी। हम सहर्ष अभिनन्दन करते है।

तपोभूमि—सम्पादक—ईश्वरीप्रसाद प्रेम, एम० ए०, प्रकाशक—माडलिक आर्य प्रतिनिधि सभा मथुरा। वार्षिक मूल्य २)।

पुस्तकाकार मे तपोभूमि के दो विशेषाक—वैदिक सिद्धान्त अक और ईसाई मत समीक्षाक हमें समालोचना के लिए प्राप्त हुए है। वैदिक सिद्धान्त अक मे स्वामी दर्शनानन्द जी के भाषण-शैली मे लिखे हुए सोलह ट्रैक्टो का सग्रह है। जिसमे ईश्वर, जीव, प्रकृति, सृष्टि, वर्णव्यवस्था, कर्मव्यवस्था, मुक्तिव्यवस्था, श्राद्ध व्यवस्था, पुनर्जन्म और भागवाद पर अपने ढग से युक्तियो और प्रमाणो द्वारा विचार प्रकट किये गये है।

यद्यपि प्रस्तुत विचार विषयों मे मतभेद की काफी गुजायश है क्योकि जो कुछ लिखा या कहा गया है वह एक निश्चित मर्यादित सिद्धान्त और दृष्टिकोण के ही आधार पर ही बुद्धिवाद और स्वाधीन अनुसन्धान प्रवृत्ति भी यत्र-तत्र प्राप्त होती है, फिर भी इनकी महत्ता और आवश्यकता मे इनकार नही किया जा सकता है। इन ट्रैक्टो को विशेषांक का रूप न देकर यदि सग्रह ग्रथ के रूप मे प्रकाशित किया जाता तो अधिक उपयुक्त होता। वैदिक सिद्धान्त जैसा कि विशेषाक का नाम प्रस्तुत लेख सामग्री से बहुत कम सगति रखता है। वैदिक सिद्धान्त एक सार्वभौम विषय है, जीवन के हर पहलू का सस्पर्श करने वाला है। यदि इस दृष्टिकोण से यह अक विविध सैद्धान्तिक लेखो से सम्पन्न किया जाता तो इसका स्थायी मूल्य और महत्व होता। हम सम्पादक और व्यवस्था-पक से अब भी अपेक्षा रखते है कि तपोभूमि को एक सीमित परिधि से बाहर निकाल कर वैदिक सिद्धान्त पर ऐसी लेख सामग्री प्रस्तुत करे, जो मानव मात्र के लिए श्रेय-प्रेय को देने वाली सिद्ध हो।

ईसाईमत समीक्षा अक मे विभिन्न भाषणो, विचारो, लेखो का सग्रह है। ईसाईमत के प्रचारको के षड्यत्रो, उनकी मक्कारी आदिका निदर्शन है। कही-कही समीक्षा अतिशय कटु भी हो गयी है। बाइबिल और ईसा से सबधित समीक्षा मे आक्रोश और घृणा अधिक प्रकट की गयी है। सन्तराम बी० ए० के विचार बहुत ही प्रेरक और रचनात्मक है। इस अक की लेख-सामग्री पढ़ने से आँखें खुल जाती है, और यह कहना पडता है, कि हिन्दू समाज की आन्तरिक कमजोरियाँ

ही इस प्रकार के धर्म परिवर्तन की पृष्ठभूमि है। कई स्थलो पर ईसाइयो को भारतभूमि छोडने की चुनौती दी गयी है, यह सन्तुलित मस्तिष्क की सूझ नही कही जा सकती। ईसाई, मुसलमान, पारसी धर्म और संस्कृति अब भारतीय संस्कृति के अन्तर्गत आ गयी है, उन्हें यहाँ से खदेडने की बात करना केवल प्रलाप हो सकता है, आवश्यकता है ऐसे उपायो और ऐसे सामाजिक संगठन की जिनमें धर्म परिवर्तन की करतूतें स्वत: ध्वस्त हो जायँ अथवा परिवर्तन की आवश्यकता ही न महसूस हो। वैदिक धर्म या हिन्दू धर्म के शुभचिन्तको को युग के अनुरूप मानसिक परिवर्तन का स्वस्थ आन्दोलन और उपाय करना चाहिए। आशा है तपोभूमि इस प्रकार के आन्दोलन और सामाजिक सस्कारो के परिपुष्ट सूत्र और सुझाव प्रस्तुत करेगी।

विज्ञान—(शिलान्यास अंक)—सपादक—डा० देवेन्द्र जगपति चतुर्वेदी, प्रकाशक—विज्ञान परिषद् इलाहाबाद।

सन् १६१३ ई० मे प्रो० रामदास गौड, सालिगराम भार्गव, डा० गगानाथ झा आदि मनीषियो ने देशी भाषा में विज्ञान के प्रचार-प्रसार का ध्येय रखकर विज्ञान परिषद् की सस्थापना की। दो वर्ष बाद सन् १६१५ परिषद् के मुखपत्र के रूप मे विज्ञान का प्रकाशन प्रारभ हुआ, जो अनवरत चल रहा है। परिषद् और विज्ञान ने हिन्दी भाषा का महान्-उपकार वैज्ञानिक क्षेत्र में किया है। इसी को यह श्रेय है कि हिन्दी में विज्ञान सबधी पुस्तके प्रकाशित होने लगी। और परिभाषिक शब्दो के निर्माण की पद्धति चल पडी।

इस अक में परिषद् के ४२ वर्ष के कार्यों का प्रेरणाप्रद लेखा-जोखा है साथ ही, विज्ञान के विविध अगो पर खोज और रुचि सम्पन्न लेख है। प्रत्येक लेख अपने विषय का महत्वपूर्ण मर्म अभिव्यक्त करता है। यह विशेषाक आकार मे छोटा है। किन्तु ज्ञानवर्द्धन और जानकारी के लिए बहुत ही उपादेय है।

कलजुग—सपादक—हरीश अवस्थी, सुरेन्द्र कुमार अग्रवाल, वार्षिक मूल्य ४।।), पता ३६/४६ किशोरी कुटीर, कानपुर।

प्रथम वर्ष का प्रथम अक फरवरी में प्रकाशित हुआ है। नाम तो चौका देनेवाला है, किन्तु लेख सामग्री समय और आवश्यकता का पूर्ण अनुसरण करती है। जीवन और साहित्य की प्रत्येक दिशा को सजग और समृद्ध बनाना शायद इसका उद्देश्य है। सम्पादकीय सूझबूझ भी अच्छी है। लेखो का चयन और विषय का निर्वचन बहुत अच्छा है। नवोदित सहयोगी के दीर्घायुष्य की हम कामना करते हैं।

योजना—सम्पादिका—मोहिनी मट्टू, प्रकाशक—लालाराव प्रकाशन, श्रीनगर (काश्मीर) कश्मीर राज्य सरकार द्वारा सचालित।

योजना नाम से यह अनुमान होता है कि कश्मीर राज्य की सरकारी जनकल्याण योजनाओं का लेखा-जोखा इस पत्रिका में होगा, किन्तु इस पत्र की लेख सामग्री कश्मीर

प्रदेश को बहुमुखी विकास की परिचायिका है। साहित्य के प्राय सभी सुरुचिपूर्ण अंगो द्वारा कश्मीर के अतीत और वर्तमान का परिचय बडे रोचक ढग से दिया गया है। साहित्य, समाज और विकासोन्मुख कश्मीर की प्रगति का परिचय जानने के लिए यह पत्रिका अद्वितीय साधन है। हम इसकी पूर्ण सफलता के आकाक्षी हैं।

भारती (पाक्षिक)—सपादक--ठा० राजबहादुर सिह, प्रकाशक--भारतीय विद्या भवन, बबई वार्षिक मूल्य ५)।

भारतीय जीवन, साहित्य और सस्कृति के सर्वांग तत्त्वो से पाठको का अवगत कराना इस पत्रिका का मुख्य उद्देश्य है। कहना न होगा कि लेख-सामग्री को देखते हुए पत्रिका अपने उद्देश्य पथ पर सफलतापूर्वक चल रही है। राजबहादुर जी पुराने हिन्दी पत्रकार है, गुजराती, मराठी, भाषाओं के विशेषज्ञ ही नही, इन सस्कृतियो और इनकी मान्यताओ के पूर्ण ज्ञाता है। गुजरात की अस्मिता भारतीय विद्या भवन थोडे ही समय मे भारतीय प्रतिष्ठा बनकर सास्कृतिक सन्देश का प्रसार कर रही है। डाइजेस्ट पद्धति पर प्रकाशित होने वाली भारती के हर लेख भारतीय जीवन, साहित्य और सस्कृति के सँवारने वाले और उनके अतीत को गौरवशाली ढग से रखने वाले हैं। सुरुचि और कला आद्यन्त इस पत्रिका की विशेषता है।

प्रकाश (आदिवासी अक)—सम्पादक—शम्भूनाथ बलियासे 'मुकुल', इस अक का मूल्य १।) देवघर (बिहार) से प्रकाशित।

आदिवासी हमारे देश की एक ऐसी बहुमूल्य थाती है, जिनकी हर साँस, हर गति चाप और हर कार्य मे आदिम सभ्यता और सस्कृति का इतिहास बोलता है। इस विशेषाक द्वारा संताली आदिवासियो के अतिरिक्त भारत के सभी भागो मे बसने वाली प्रमुख आदिम जातियो का सामाजिक परिचय सचित्र दिया गया है। आदिवासियो के रहन-सहन, रीति-रिवाज, उनकी जीवनी शक्ति और व्यक्तिगत, जीवन की अभिव्यजना का अध्ययन इस विशेषाक से आसानी से किया जा सकता है। समाजशास्त्र, नृतत्त्व और मानवशास्त्र के अध्ययन से रुचि रखने वालो के लिए यह विशेषाक बहुत ही उपादेय सिद्ध होगा।

राष्ट्रभाषा पत्र (साहित्यिक विशेषाक)—सम्पादक—प० लिगराज मिश्र, श्री राजकृष्णबोध, प० अनसूया प्रसाद पाठक; प्रकाशक—उत्कल राष्ट्रभाषा प्रचार सभा, कटक, वा० मू० ४)

७० पृष्ठो का यह विशेषाक अपनी कलात्मक छपाई, कागज की उत्तमता और सास्कृतिक आवरण से मनोहारी है ही विषय और वस्तु की सर्वोत्कृष्टता इसे सग्रह की वस्तु बना रही है। प्रारंभ मे ओडिया भाषा साहित्य का काल क्रमानुसार परिचयात्मक इतिहास दिया गया है, इसके बाद लगभग ७० उत्कलीय साहित्यिको का जीवन और कृतित्त्व सचित्र प्रकाशित किया गया है।

राष्ट्रभाषा पत्र का यह कार्य हिन्दी भाषा और उसके साहित्यिको के लिए एक अमूल्य भेंट के रूप मे समझने योग्य है। हिन्दी के माध्यम से उत्कल भाषा के साहित्य और उसके साहित्यिको

के जीवन और कृतित्व का परिचय प्राप्त करने के लिए यह बहुत ही उपादेय साधन है। भारतीय वाङ्मय पर लिखने वालो, खोज करने वालो के लिए तो अतिशय उपयोगी है। नि:सन्देह यह अंक संग्रहणीय है और अन्य भाषाओं के पत्रों के लिए एक प्रेरणा है।

खेती : (कृषि यंत्र विशेषाक)—सम्पादक—एम० एस० रन्धावां, प्रकाशक—भारतीय कृषि अनुसन्धान परिषद्, नयी दिल्ली, वार्षिक मूल्य ६), इस अंक का मू० ।।) पृ० ९२ कागज, छपाई और गैट-अप उत्तम एव मोहक।

मारत जैसे उपमहाद्वीप के निवासियो का प्रमुख उद्योग कृषि है, फिर भी यहाँ इतना अन्न नही पैदा होता, जिससे वर्षभर की आवश्यकता की पूर्ति हो सके। इस अभाव को विदेशों से लाखो टन प्रतिवर्ष अन्न मँगा कर पूरा किया जाता है।

स्वाधीनता प्राप्ति के बाद भारत सरकार का ध्यान और सर्वाधिक शक्ति कृषि उद्योग को विकसित और समृद्ध बनाने की ओर है। परिणाम भी अनुपातत सन्तोषजनक है। भारतीय किसानोऔर खेती को उन्नत बनाने के लिए सरकार की ओर से जो अनेक योजनाएँ बनायी गयी है, उनमे भारतीय कृषि अनुसधान परिषद् की स्थापना प्रमुख स्थान और महत्त्व रखती है। इस सस्था के अधीन जो योजनाएँ क्रियान्वित की जा रही है वे नि सन्देह लक्ष्य-सिद्धि की पूरक हैं।

परिषद् की ओर से 'खेती' नाम का एक मुखपत्र भी प्रकाशित हो रहा है, जिसके सपादक मण्डल के प्रधान श्री महेन्द्र सिह रन्धावाँ योग्य, अनुभवी प्रशासक होने के साथ ही कृषि विज्ञान और वनस्पति-विज्ञान के विशेषज्ञ भी है। उनके तत्त्वावधान में प्रकाशित खेती का कृषियत्र विशेषाक केवल भारत सरकार की कृषि प्रगति का ही द्योतक नही है बल्कि जनसाधारण को प्रभावित और उत्सुक करने मे भी सक्षम है। इस विशेषाक में भारत के विभिन्न प्रदेशो मे खेती की दशा सुधारने के लिए जिन कृषि यत्रो का विकास और व्यवहार किया गया है, उनका विस्तृत विवरण है। इस अक के कृषि यत्रो का विवरण पढ़कर आश्चर्य और प्रसन्नता होती है, कि भारत इस कार्य-व्यापार मे कितना उन्नत और गतिशील होता जा रहा है। सैकड़ो वर्ष पुरानी कृषि-व्यवस्था का जीर्णोद्धार ही नही परिवर्तन कर बोवाई से लेकर फसल काटने तक का काम यत्रो द्वारा किये जाने का सर्वत्र प्रचार क्रमश बढ रहा है।

हिन्दी साहित्य में कृषि विज्ञान और यत्र विज्ञान पर बहुत कम साहित्य लिखा गया है, यह विशेषांक इस दिशा में प्रेरक और पूरक कहा जा सकता है।

सभी लेख अपने विषय का प्रतिपादन सरल और सजीव ढंग से करते हैं, उनका मर्म समझने के लिए यत्रो के चित्र पूर्ण सहायक है। ऐसे उपयोगी प्रकाशन और सम्पादन के लिए परिषद् तथा सम्पादक मंडल हिन्दी भाषा और भारतीय जनता की बधाई के पात्र हैं।

सिद्धान्त (पुरुषार्थ-विशेषाक)—सम्पादक मण्डल के प्रधान—श्री गगाशकर मिश्र, प्रकाशक—गोपाल जी ब्रह्मचारी गगा तरग, नगवा, वाराणसी, आकार डबलडिमाई आठपेजी, पृष्ठ ३९२, मूल्य ३।।)।

सांस्कृतिक, धार्मिक और अनुशीलन प्रधान साहित्य को प्रतिपक्ष प्रकाशित करना सिद्धान्त का उद्देश्य है। कभी-कभी इसकी समीक्षाएँ, इसकी गवेषणाएँ अनवद्य और अश्रुत अपूर्व हुआ करती है। इस वर्ष सिद्धान्त ने पुरुषार्थ विशेषाक प्रकाशित कर अपने ढंग का स्थायी साहित्य अपने पाठको को दिया है। इस अक में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन पुरुषार्थों का विवेचन विभिन्न विषयक लेखो द्वारा चार विभागो मे किया गया है। धर्म में १७, अर्थ में १८, काम में १७ और मोक्ष खण्ड में २२ लेख आदि है।

पुरुषार्थ चतुष्टय मानव जीवन के प्रेरक, सहायक और सिद्धिदायक माने जाते हैं। इनका यथोचित व्यवहार करने पर जीवन सिद्धि प्राप्त हुआ करती है। विशुद्ध धार्मिक और शास्त्रीय दृष्टिकोण रखकर इन चारो का जो विश्लेषण और व्याख्यान लेखो द्वारा किया गया है, उनकी उपयोगिता से इनकार नही किया जा सकता है। पूरा विशेषाक भारतीय सनातनधर्म की अभिव्यक्ति बना हुआ है। धार्मिक और सांस्कृतिक विचारधारा रखने वाले व्यक्तियो के लिए इसके हर लेख प्राणदस्पर्श सिद्ध होगे—ऐसा हमारा विश्वास है।

गांधी-मार्ग—सम्पादक—एस० के० जार्ज, प्रकाशक—गाधी स्मारक-निधि, प्रकाशन विभाग बबई। वार्षिक मूल्य २)

'गांधी-मार्ग' का प्रकाशन जनवरी सन् १९५७ से प्रारभ हुआ है। ऐसे एक प्रतिनिधि पत्र की नितान्त आवश्यकता थी जो सर्वतोभाव से गाधी जी की विचारधाराओ को जनसमाज के समक्ष विभिन्न रूप से प्रस्तुत करे।

यद्यपि महात्मा गांधी जी ने स्वय कहा था कि 'गाधीवाद' जैसी कोई चीज नही है और मै अपने पीछे कोई मत या सप्रदाय नही छोडना चाहता हूँ। तथापि गाधीजी की सूक्ष्म विचारणाओ ने जीवन के प्रत्येक अग का सस्पर्श कर एक ऐसा पथ-निर्देश किया है, जो वाद, मत, सम्प्रदाय से कहीं अधिक महत्त्वशील, स्थायी और अनुप्रेरक है।

उनकी विचारणाओ की समष्टि के दर्शन 'गान्धी-मार्ग' मे होते है। 'गाधी-मार्ग' का पहले नाम करण 'गाधी-दर्शन' किया गया था, किन्तु पत्र के संचालको, परामर्शदाताओ को यह नाम इसलिए नही रुचा कि इससे यह ध्वनि निकलती है, कि गाधीजी ने किसी खास दर्शन का प्रतिपादन किया था। यह ठीक है कि गाधीजी का जीवन और कृतित्व समष्टि और समन्वय से ओतप्रेत है, फिर भी इससे इनकार नही किया जा सकता कि उन्होने किसी खास दर्शन का प्रतिपादन नहीं किया था। साथ ही 'गाधी-मार्ग' यह नाम भी 'गाधी-दर्शन' के अर्थ से बहुत दूर नही है। बल्लभाचार्य जी ने अपने जीवन दर्शन को 'पुष्टि-मार्ग' कह कर प्रचलित किया था, उनके दार्शनिक सिद्धान्तो के अनुसार ससार सत्य समझा जाता है। जहाँ तक हमारा अनुभव है, महात्मा गाधी ससार को असार न समझकर उसमे सत्य के दर्शन किया करते थे। एक बार सन् १९४७ मे 'अभ्युदय' के सपादक ने खीज कर अपने सम्पादकीय अग्रलेख में गाधीजी को सलाह दी थी, कि अब स्वराज्य मिल गया, गांधीजी का मिशन पूरा होगया, उन्हे उचित है, कि

वे हिमालय जाकर भजन करे। उसका उत्तर देते हुए महात्माजी ने अपने प्रार्थना सभा मे कहा था कि 'अभ्युदय सपादक मुझे ऐसी सीख दे रहे हैं, किन्तु मै हिमालय में जाकर क्या करूँगा, पहले वहाँ जनता चले पीछे से मै उसकी सेवा के लिए वहाँ जाऊँ।'

गांधीजी की प्रत्येक विचारधारा मानव जीवन की दैनिक समस्याओ की उलझन सुलझाने की कुजी है। उनका मार्ग या दर्शन जागनिक सबधो को बनाये रखने तथा उनको विकसित करने का मुख्य उद्देश्य रखता है। इस उद्देश्य की पूर्ति का अवलंबन गीता का समत्वयोग, सत्य और अहिंसा मुख्य है।

जडवादग्रस्त जगत् को मानवता और सर्वधर्म समन्वय की शिक्षा देने के लिए गाधी मार्ग की नितान्त आवश्यकता है। सारा विश्व गाधी मार्ग की खोज के लिए व्यग्र हो रहा है। किन्तु हम देखते है कि भारत के अधिकाश निवासी गाधी मार्ग की उपयोगिता और महत्ता से अनभिज्ञ हैं अथवा उस ओर चलने की उसमे प्रवृत्ति ही नही है।

इस पत्र में गाधी मार्ग के विश्लेषण, व्याख्या मे कुल १५ लेख है, जिनमे ८ विदेशियो के हैं, और हमें ऐसा लगता है कि अधिकाश भारतीय लेखकों की अपेक्षा विदेशियो ने जो कुछ लिखा है, उसमें उनका अध्ययन है रुचि है, अधिकार है, उनके कथन मे वजन है।

'पूत के पाँव पालने में ही जाने जाते हैं'—इस कहावत के अनुसार इस अक से ही गाधीमार्ग होनहार जान पड़ता है। आवश्यकता है इसे सार्वभौम, निश्छल स्नेह की।

सम्पादकीय

मिथ्यावाद

जब से हिन्दी राष्ट्रभाषा स्वीकार की गयी, तभी से उसकी वैधानिकता, वैज्ञानिकता सम्पन्नता और व्यापकता की चुनौती उस वर्गविशेष के इने गिने व्यक्तियो द्वारा सार्वजनिक रूप मे दी जा रही है, जो राजनीतिज्ञ, समझौतावादी और अगरेजियत के परमभक्त है। उनमे से बम्बई के राज्यपाल काशीवासी, 'आज' दैनिक के भूतपूर्व सम्पादक बाबू श्री श्रीप्रकाश जी भी है। बाबू साहब ख्याति प्राप्त ससदीय प्रवक्ता और हास्य, व्यग्य मिश्रित व्याख्यानदाता माने जाते है। जब आप मद्रास के गवर्नर नियुक्त हुए थे और वहाँ कुछ दिन रहकर अपने घर काशी आये थे, तो एक सभा मे बोलते हुए आपने कहा था कि 'हिन्दी मे है क्या सिवाय गालियो के? मद्रास राज-भवन के चपरासी जब आपस मे लडते है तो गाली, गलौज हिन्दी मे करते है, वैसे उनकी भाषा तमिल है।'

तबसे आपने अपने इस अनुभव, अध्ययन और कथन की उद्धरिणी, पुनरावृत्ति अष्टाध्यायी के एक विद्यार्थी की भाँति करते आरहे हैं। उनके इस कथन में, ऐसी पुनरावृत्ति में अनुकरणशील मनोवृत्ति का प्रभाव है और यह प्रभाव नेहरू जी से ग्रहण किया गया है, क्योकि नेहरू जी किसी एक विषय पर एक बार अनुकूल या प्रतिकूल राय जब दे देते है, तो उसे बार बार दुहराया करते है। नेहरू जी महान् है, राष्ट्र की नाडी पहचानते है, उनमें वह सभी क्षमताएँ है जो एक राष्ट्र-नायक विश्व के शक्तिशाली प्रतिभाशाली महापुरुष में होनी चाहिए। उनका अनुकरण करने मे सबको सफलता प्राप्त होनी सभव नही।

किन्तु बाबू श्रीप्रकाश जी मद्रास मे रह कर और वहाँ से आकर राष्ट्र और जनता के लिए सिर्फ दो अनुभव के सूत्र अपने साथ लाये है। एक तो दक्षिण मे आर्य-अनार्य का संघर्ष दूसरे हिन्दी राष्ट्रभाषा नही गजभाषा है, उसमे अपशब्द अधिक है।' अभी गतमास आपने नागपुर में भाषण करते हुए दक्षिण भारत में आर्य द्रविड सघर्ष का जिक्र करते हुए पौराणिक, ऐतिहासिक उदाहरणो द्वारा उत्तर भारत से अगस्त्य का दक्षिण की ओर प्रस्थान तथा राम-रावण युद्ध का रोचक वर्णन किया और यह सिद्ध किया कि आज भी दक्षिण में ब्राह्मण और ब्राह्मणेतर जातियो के बीच परपरागत आर्य-द्रविड सघर्ष चल रहा है।' ऐसी स्थिति में दक्षिण में हिन्दी प्रचार सावधानी से किय जाने की उन्होने चेतावनी दी है।

बाबू साहब के इस कथन पर हम चौकन्ने नही हुए और न उनके कथन की उपेक्षा ही कर सकते है, किन्तु विनीत शब्दो मे इतना कह देना आवश्यक समझते हैं, कि भारत सदैव एक राष्ट्र रहा है। राष्ट्रीय और सांस्कृतिक एकता इस देश की अवच्छिन्न रही है। पाश्चात्य इतिहास-कारो के इतिहासो का अनुशीलन छोडकर बाबू साहब भारतीय इतिहास की ओर दृष्टिपान करें। मोहनजोदडो की खुदायी से प्राप्त सामग्री से अब यह निश्चय हो गया है, कि द्रविड सभ्यता केवल दक्षिण तमिल, तेलुगु प्रदेश ही तक नही थी बल्कि सिन्धु की घाटी तक रही है। राम-रावण का सघर्ष आर्य-द्रविड सघर्ष नही बल्कि न्याय और अन्याय की लडाई थी। रावण अनार्य नही था वह कुलीन, वेद-वेदाङ्ग तत्त्वज्ञ ब्राह्मण था। शिव केवल अनार्यों या द्रविडो के ही देवता नही थे, स्वय राम ने शिव पूजा कर रामेश्वरम् की प्रतिष्ठा की थी। दक्षिण मे शिव, विष्णु, शक्ति, राम, कृष्ण की उपासना उसी निष्ठा से की जाती है जैसे उत्तर भारत मे। शकर, रामानुज,वल्लभ, निम्बार्क आदि धर्माचार्य दक्षिण के ही रहे जिन्होने आर्य-द्रविड का प्रश्न न उठाकर एक राष्ट्र, एक सस्कृति का सन्देश समस्त भारत को प्रदान किया है।

हम यह स्वीकार करते है, कि दक्षिण मे कुछ तत्त्व ऐसे है जो ऐसी भिन्नता और अनेकता की बाते फैलाते है। किन्तु जहाँ तक हमारा अनुभव है, इसकी बुनियाद धर्म, भाषा, सस्कृति नही राजनीति है। राजनीतिक लाभ प्राप्त करने के लिए इस प्रकार की भेदमूलक बातो का प्रसार होना स्वाभाविक है किन्तु श्रीप्रकाश जी जैसे मनीषी राजनीतिज्ञ ऐसी छिछली बातो से इतना प्रभावित होगे—यह आश्चर्य की बात है।

रह गयी दक्षिण मे हिन्दी प्रचार की सावधानी की बात। तो हम उत्तर भारतीयो को दक्षिण पर इतना विश्वास ही नही, गर्व है कि दक्षिण आज से नही मुगलकाल से और इससे भी पहले से हिन्दी को साहित्य के रूप मे अपनाता आ रहा है। तीर्थों और तीर्थयात्रियो, सन्तो, सत्पुरुषो के माध्यम से हिन्दी शताब्दियो पूर्व से दक्षिण का अग बन चुकी है। और अब तो हमें यह कहने मे गौरव अनुभव हो रहा है, कि दक्षिण मे हिन्दी के कुछ विशेषज्ञ, साहित्यिक ऐसे होने लग गये जो उत्तर भारत के चोटी के साहित्यिको की पाँत मे बैठने का सामर्थ्य रख रहे हैं।

बाबू श्रीप्रकाश जी ने मद्रास राजभवन के चपरासियो को लडते समय हिन्दी मे परस्पर गाली देने का जो हास्यरसवर्द्धक उल्लेख किया है, उसे पढकर हमे एक कथा याद आ गयी। जिसका साराश यह है कि राजा भोज के दरबार मे एक ऐसा बहुश्रुत विद्वान् आया कि सभी भाषाओ पर मातृभाषा के समान बोलने का वह अधिकार रखता था। सारा दरबार अचम्भित था और यह जानना चाहता था कि इसकी मातृ-भाषा का पता कैसे चले। कोई उपाय न देखकर कालिदास का सहारा लिया गया। उन्होने उसकी मातृभाषा का पता लगाने का बीडा उठाया और दूसरे दिन जब वह राजदरबार मे जा रहा था, कालिदास ने ऐसा कटु व्यग्य कहा कि वह विद्वान् क्रोध से जल उठा और कालिदास को सैकड़ो गालियाँ देने लगा। हँसते हुए कालिदास ने दरबार में जाकर निवेदन किया कि उस विद्वान् की मातृभाषा का पता मैंने लगा लिया। उत्सुकता से उससे पूछा गया कि कैसे पता चला, तो कालिदास ने बताया कि मनुष्य जब अत्यन्त क्रोधित होकर

गालियाँ बकने लगता है तो वह असली रूप मे अपनी मातृभाषा में ही गालियाँ दिया करता है।'

इस सिद्धान्त के अनुसार यदि मद्रासी हिन्दी मे गाली देते हैं तो इससे हिन्दी की हीनता नही सिद्ध होती बल्कि उसकी व्यापकता ही द्योतित होती है। गालियाँ, अपशब्द संसार की किस भाषा मे नही है, यदि बाबू श्रीप्रकाश जी का सकेत हिन्दी कोशो की ओर हो तब भी यह कहा जा सकता है, कि हिन्दी का सर्वप्रथम प्रतिनिधि शब्द कोश 'हिन्दी शब्दसागर' काशी ही मे ना० प्र० सभा में बना और बाबू साहब स्वय भी उस संस्था के एक अग थे। लेकिन शब्दसागर या अन्य कोशो को पढ़ कर कोई भी समझ सकता है कि उसमें कितने और कैसे अपशब्दों का सचय हुआ है। यह तो एक मिथ्यावाद है, जिसे वितण्डावाद की पृष्ठभूमि पर ठोक पीटकर उतारा जा रहा है।

नागपुर के अपने भाषण में बाबू श्रीप्रकाशजी ने यह भी सिखावन दी है, कि हिन्दी को राष्ट्रभाषा न कहा जाय। सविधान मे जिन चौदह भाषाओ के नाम गिनाये गये हैं, वे सभी राष्ट्रभाषाएँ। अकेले हिन्दी को राष्ट्रभाषा कहने से इतर प्रान्त के लोगो को बुरा लगता है। उन्होंने अपना उदाहरण देते हुए यह भी कहा कि यदि मै हिन्दी भाषी प्रदेश का न होता तो मुझे भी बुरा लगता।

बाबूसाहब के ये बोल केन्द्रीय शिक्षा मत्रालय की प्रतिध्वनि हैं। मत्रालय स्वय नही चाहता कि हिन्दी को ऐसा कोई पद या महत्त्व मिले जिससे उसका सार्वभौम रूप बन सके। इसीलिए राजभाषा आयोग की प्रश्नावली में भी इस तरह की द्विधा अपनायी गयी थी। लेकिन श्रीप्रकाश बाबू और उन्ही के सहयोगियो द्वारा बनाये गये और उन्ही के द्वारा स्वीकृत सविधान की धारा ३५१ मे स्पष्टीकरण करते हुए कहा गया है कि "केन्द्रीय सरकार का कर्त्तव्य होगा कि वह हिन्दी का प्रचार करे और वह हिन्दी हमारी सामासिक सस्कृति के सम्पूर्ण तत्त्वो को अभिव्यक्ति का माध्यम बनेगी।"

सविधान के इस अनुच्छेद की व्याख्या चाहे जिस ढग से की जाय तात्पर्य एक ही निकलता है, कि हिन्दी सम्पूर्ण राष्ट्र की सामासिक सस्कृति के समस्त तत्त्वो की अभिव्यक्ति का माध्यम है। सामासिक सस्कृति किसी एक क्षेत्र या प्रदेश की नही हुआ करती वह समूचे राष्ट्र की हुआ करती है।

हिन्दी के अतिरिक्त अन्य जिन भाषाओ के नाम सविधान मे गिनाये गये हैं, उनके सबध मे भी स्पष्टीकरण करते हुए धारा ३४५ मे लिखा गया है कि "राज्यो को अपनी अपनी प्रादेशिक भाषाओ के साथ हिन्दी को राज्य भाषा स्वीकार करने का अधिकार दिया गया है।" इसका तात्पर्य स्पष्ट है, कि भारत की सभी राज्य सरकारे अपने अपने प्रदेश की भाषाओ को महत्त्व देंगी, अन्य प्रदेश की भाषाओ को नही किन्तु हिन्दी को सभी राज्य सरकारे राज्य भाषा के रूप में स्वीकार कर सकती है। तात्पर्य यह कि हिन्दी क्षेत्रीय भाषा नही वह राष्ट्रीय स्तर की भाषा है। उसे वही स्थान प्राप्त है जो राष्ट्रभाषा को मिलता है। और राष्ट्र की राजनैतिक तथा सास्कृतिक एकता को बढाने और बनाने मे हिन्दी ही एकमात्र सक्षम, सार्वभौम भाषा है।

हमारा अपने राष्ट्रनायको, शासन के कर्णधारो से अनुरोध है, कि वे नीर-क्षीर-विवेक-वृत्ति स्वीकार कर राष्ट्रका कल्याण चिन्तन करें। भ्रम-विच्छेद करना उनका ध्येय होना चाहिए, भ्रम उत्पन्न करना नही।

किमाश्चर्यमतःपरम्

सन् १९५१ में केन्द्रीय शिक्षा मन्त्री महोदय ने आपने एक भाषण में कहा था कि 'आधुनिक हिन्दी ब्रजभाषा, अवधी और राजस्थानी से भिन्न है, और केवल कुछ वर्षों की पुरानी भाषा है।

हिन्दी के अस्तित्व पर शिक्षा मत्री द्वारा किये गये इस प्रकार के आघात से प्रयाग का प्रबुद्ध साहित्यक वर्ग तिलमिला उठा था। और विश्वविद्यालय के तथा नगर के स्वतत्र साहित्यिको ने एक सभा का आयोजन कर केन्द्रीय शिक्षा मन्त्री के उक्त कथन का तीव्र विरोध किया था। एक प्रस्ताव स्वीकृत कर उसे केन्द्रीय शिक्षा मत्री के पास भेजा गया था। जिसमें अवधी, एव राजस्थानी से पृथक् कर हिन्दी को केवल कुछ वर्षो की भाषा स्वीकार करने का जोरदार विरोध किया गया था और कहा गया था कि हिन्दी से सूर, तुलसी, कबीर, मीरा, का सबध स्वीकार न कर शिक्षा मत्री ने भूल की है।

लेकिन ६ वर्ष बाद केन्द्रीय शिक्षा मत्री का चक्र उन्ही लोगो के शिर पर सवार होकर घूमने लग गया जिन्होने अवधी, ब्रज, राजस्थानी को हिन्दी से पृथक् कहने वालो की निन्दा की थी। विश्वविद्यालयो के साहित्यिक सगठन भारतीय हिन्दी परिषद् का अधिवेशन अभी वाराणसी मे हुआ था। सभापति पद से दिये गये डाक्टर बाबूराम सक्सेना के भाषण के जो अश समाचार पत्रो मे प्रकाशित हुए है उन्हे पढकर हमे आश्चर्य चकित रह जाना पड़ा। आपने कहा कि 'ब्रजभाषा' अवधी आदि का काव्य अहिन्दी भाषियो की समझ में नही आता। इसलिए हमें चाहिए कि हिन्दी के पाठ्यक्रम मे केवल खड़ी बोली का साहित्य पढाया जाय।"

आपके इस कथन पर परिषद् के अधिवेशन में पर्याप्त विवाद भी हुआ। पक्ष-विपक्ष में अपने अपने मत प्रकट किये गये और अन्त मे आपका यह सुझाव स्वीकार नही किया जा सका।

लेकिन एक अप्रत्याशित खतरे के रूप में हम इस कथन को देख रहे है। आज दब गया है कल किसी भी समय यह सिर उठा सकता है। आश्चर्य की बात है कि सूर, तुलसी, जायसी, मीरा, कबीर जैसे ब्रज, अवधी, राजस्थानी कवियो के काव्य लोगो की समझ मे नही आ रहे है। यह हमने पहले पहल सुना है। जिस सूर के ललित पद गुजरात के घर-घर मे नित्य गाये जाते हैं, जिस तुलसी का मानस भारत ही मे नही रूस तक के जन मानस मे समाया हुआ है, जिस जायसी के पदमावत का सर्वप्रथम बँगला अनुवाद बगाल मे हुआ और जो मीरा और कबीर की पदावलियाँ और सखिया सारे भारत मे गायी जाती हैं। उन्हें किस प्रदेश के पढे लिखे लोग नही समझ पाते यह एक महान आश्चर्य है।

अवधी, ब्रज और राजस्थानी भाषाओ की सन्तवाणियाँ महाराष्ट्र, तेलगाना से लेकर रामेश्वरम् तक सैकडो वर्ष से भाषा की भिन्नता का भेद हटाकर उत्तर-दक्षिण का स्नेह-सूत्र बनी हुई

हैं। जब खड़ी बोली पैदा भी नही हुई थी उससे पहले से ब्रज, अवधी भाषाये उत्तर से दक्षिण, पूर्व, पश्चिम तक व्याप्त रही हैं। वहाँ के लोग सन्तों द्वारा इन बोलियो के पदो से परिचित हो चुके थे। लेकिन जब तत्त्वज्ञ जान बूझकर अल्पज्ञ बन जाय, घर के दीपक से घर मे आग लग जाय तो कुछ कहते, करते नही बनता है। यही कहा जा सकता है—किमाश्चर्यमत परम्।

स्वर्गीय श्री खेरजी

बंबई के पूर्व मुख्यमत्री, इग्लैण्ड के भारतीय हाई कमिश्नर और राजभाषा आयोग के अध्यक्ष महामानव श्री बालगगाधर खेर महोदय का असामयिक निधन थोडी सी बीमारी के कारण हो गया—यह हमारे देश के लिए हृदय विदारक घटना है।

स्वर्गीय खेर नैतिकवान देशभक्त, निष्ठावान सास्कृतिक और प्रतिभावान विद्वान् थे। वकील और राजनीतिज्ञ होते हुए भी वे साधुमना, सरल और भोले व्यक्ति थे। उनके वचन और कर्म ममता से समोये और ज्ञान से धोये हुए होते थे। राजनीतिक गदगी उनका स्पर्श उनके जीवन में न कर सकी। सस्कृत के अगाध विद्वान् तो थे ही हिंदी के प्रति उनकी निष्ठा और चिन्तना अपूर्व थी। दक्षिण भारत हिंदी प्रचार सभा के जन्मकाल से ही श्री खेर महोदय उसके आधार स्तम्भ रहे हैं। वे इतने उत्साही और कर्मठ थे कि हिन्दी का अध्ययन मनोयोग से करके दक्षिण भारत हिंदी प्रचार सभा की परीक्षाओ में बैठे साथ अपने लडके को भी उन्होंने उत्साहित किया। पिता-पुत्र ने एक साथ परीक्षाएँ पास की थी'

स्वर्गीय खेर महोदय के विशाल हृदय मे उदारता का गभीर सागर मडता था, मस्तिष्क नीर-क्षीर विवेकिनी बुद्धि से आपूर्यमाण था उनका व्यक्तित्व राष्ट्र और सस्कृति का प्रतीक बन गया था और स्वभाव की कोमलता तो प्राचीन ऋषियो का स्मरण दिलाने वाली थी।

राष्ट्रभाषा हिन्दी के उन्नायको में उनका नाम चिरस्मरणीय रहेगा, बबई प्रदेश तथा दक्षिण मे उन्होंने हिन्दी के प्रचार के लिए जो प्रयत्न किये थे उन्ही को आज हम विकसित और पुष्पित देख रहे है। इधर राजनीति से पृथक् होकर उन्होंने जन सेवा व्रत स्वीकार किया था, भारत सरकार के अनुरोध पर राजभाषा आयोग के अध्यक्ष होकर उन्होंने अपनी योग्यता, सदाशयता और निष्पक्षता का अदम्य परिचय दिया था। आयोग की प्रतिष्ठा के वे मेरुदण्ड बने हुए थे, दु'ख है, कि आयोग का पूरा विवरण और परिणाम प्रकाशित होने से पूर्व वह महामानव चल बसा।

श्री खेर को राष्ट्र का विश्वास, जनता की श्रद्धा प्राप्त थी। वे अपने शुभ कार्यों, और पवित्र आचरण से अजातशत्रु बने हुए थे। उनका असामयिक निधन राष्ट्र की अपूरणीय क्षति है। भगवान् उनकी दिवंगत आत्मा को शान्ति एव उनके शोक संतप्त परिवार को असह्य दु ख सहन करने की शक्ति दे।